राजकमल मूल्यांकन माला

मध्यकालीन हिन्दी गद्य

हरिमोहन श्रीवास्तव

१४५

मध्यकालीन हिन्दी गद्य

मध्यकालीन हिन्दी गद्य

लेखक

हरिमोहन श्रीवास्तव

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्रथम संस्करण, १९५९

मूल्य : तीन रुपये

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५२२४–१४

समर्पण

गुरुदेव

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के—

जिन्होंने

जीवन-दर्शन के प्रति एक नवीन दृष्टि दी और जिनके

उदार आस्थावान् व्यक्तित्व ने एक नूतन

प्रकाश प्रदान किया

—चरणों में

सादर समर्पित !

दो शब्द

भारतवर्ष में बहुत प्राचीनकाल से ही गद्य का प्रयोग होता आ रहा है। वैदिक साहित्य में पद्य के साथ-साथ गद्य का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। ब्राह्मणों में और कई उपनिषदों में उस काल के उत्कृष्टतम विचार को गद्य के माध्यम से प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। सूत्रकाल के सभी विवेचनापरक शास्त्र गद्य में ही लिखे गए हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में भी गद्य के माध्यम से उत्तमोत्तम आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा मिलती है। वस्तुतः ईसवी सन् के पूर्व भारतवर्ष में अनेक विचारपरक शास्त्र और अध्यात्म विवेचक धर्मग्रन्थ गद्य के माध्यम से लिखे गए हैं। परन्तु इन विचारों को पद्यबद्ध करके प्रगट करने की भी प्रथा इस देश में बहुत प्राचीन काल से ही चली आती है। वस्तुतः गंभीर विचार के लिए प्रौढ़ और परिमार्जित गद्य की आवश्यकता होती है, किन्तु भारतवर्ष में केवल विचारपरक शास्त्रीय ग्रन्थों के लिए ही गद्य का उपयोग नहीं हुआ है, अत्यन्त अलंकृत और झंकारमयी गद्य शैली का भी प्रयोग हुआ है। संस्कृत में ईसवी सन् के पश्चात् इस प्रकार के अलंकृत गद्य अवश्य लिखे जाने लगे होंगे। महाक्षत्रप, रुद्रदामा, समुद्रगुप्त आदि की गद्य प्रशस्तियों से निसंदिग्ध रूप से यह बात प्रमाणित होती है। संस्कृत की कथाएँ और आख्यायिकाएँ झंकारपूर्ण अलंकृत गद्य के सर्वोत्तम नमूने हैं। कथाएँ और आख्यायिकाएँ प्राकृत और अपभ्रंश में भी लिखी गईं परन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में इन्हें पद्य में लिखने की छूट थी। बीच-बीच में थोड़ा-बहुत गद्य का प्रयोग अवश्य किया जाता था। संस्कृत के नाटकों में प्राकृत गद्य का थोड़ा-बहुत प्रयोग हुआ अवश्य है परन्तु जैन सिद्धान्त और सिद्धान्तोत्तर ग्रन्थों के सिवाय अत्यन्त प्राकृत गद्य का प्रयोग कम ही हुआ है। परवर्ती संस्कृत नाटकों का प्राकृत गद्य बनावटी जान पड़ता है। वस्तुतः नवीं, दसवीं शताब्दी के बाद प्राकृत और अपभ्रंश में यदि लिखा भी गया हो तो बहुत कम उपलब्ध होता है। प्रौढ़ विचार के लिए बौद्धों और जैनों ने भी ब्राह्मणों की तरह संस्कृत की अर्थगर्भित गद्य शैली का ही व्यवहार शुरू किया था। गुप्तकाल के पूर्व से ही बौद्ध पंडितों ने दार्शनिक विचारों के लिए संस्कृत को अपनाना शुरू कर दिया था। इस प्रकार प्रौढ़ और संस्कृत भाषा के निबद्ध गद्य का व्यवहार एक प्रकार से सबने स्वीकार कर लिया था। प्राकृत और अप-

भ्रंश ग्रन्थों के भी अर्थ समझाने के लिए संस्कृत गद्य का सहारा लिया जाने लगा और इस प्रकार शास्त्रीय विचार के लिए संस्कृत की गद्य शैली ही प्रधान हो गई। प्राकृत और अपभ्रंश में सरस पद्यबद्ध रचनाएँ ही होती रही हैं। 'लीलावई कहा' जैसी प्राकृत कथाओं में जो नाममात्र का गद्य मिलता है वह संस्कृत की अलंकृत गद्य शैली से पूर्णतः प्रभावित है।

प्राकृत और अपभ्रंश की भाँति पुरानी हिन्दी में भी पद्यबद्ध रचनाओं का ही बाहुल्य था। टीकाओं, वार्तिकों और वार्ताओं के रूप में जो थोड़ा-बहुत गद्य उपलब्ध होता है वह बहुत प्रौढ़ नहीं। फिर भी उस गद्य का साहित्य के इतिहास में महत्त्व है। क्योंकि गद्य के माध्यम से प्रौढ़ विचारों और सरस आख्यानों को कहने की जो दीर्घकालीन प्राचीन परम्परा रही है वह गद्य के धारावाहिक अस्तित्व की निशानी है। मेरे सुयोग्य विद्यार्थी आयुष्मान श्री हरिमोहन ने प्राचीन हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त गद्य का अनुसंधान करके प्रस्तुत पुस्तक की रचना की है। यह पुस्तक उन्होंने अपने एम० ए० के निबंध के रूप में लिखी थी। अब यह प्रकाशित होकर बृहत्तर सहृदय समाज के सामने जा रही है। स्वभावतः इसके प्रकाशन से मुझे हर्ष और सन्तोष हो रहा है। इस पुस्तक से हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले पुराने गद्य का परिचय एक ही स्थान पर मिल जायगा और उन विविध गद्य शैलियों की चर्चा पाठक को मिलेगी जिनके माध्यम से पिछले कई सौ वर्षों के हिन्दी साहित्यिक अपने विविध प्रकार के विचार प्रकट करते रहे हैं। आशा है यह पुस्तक साहित्य के अन्वेषकों के लिए उपयोगी और लाभदायक सिद्ध होगी।

काशी विश्वविद्यालय। —हजारीप्रसाद द्विवेदी

वक्तव्य

प्रस्तुत रचना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० (१९५३) की परीक्षा के आठवें प्रश्नपत्र के स्थान पर "पुराना हिन्दी-गद्य" नाम से स्वीकृत प्रबन्ध है। अतः इसमें विद्यार्थी सुलभ दोषों का पाया जाना आश्चर्य की बात न होगी। विषय कुछ ऐसा रहा कि प्राकृत काल से लेकर ब्रजभाषा काल तक के प्राप्य प्रायः सभी गद्य-ग्रन्थों का विवरण, उनके उद्धरण और उदाहरण तथा उनमें विकसित होती हुई गद्य की प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए चलना पड़ा है। अतः इसमें अधिकतर सूचनात्मकता, उद्धरण और उदाहरण की मात्रा के आधिक्य की प्रतीति हो सकती है। किन्तु यथासम्भव गद्य की परम्परा में सामंज्य स्थापित करने का प्रयास भी परिलक्षित किया जा सकता है।

इसमें अनेक लुप्त-प्रायः (विशेषकर ब्रजभाषा-गद्य के) पुराने लेखकों और उनकी कृतियों से उद्धृत खण्डों के आलोक में उनका विवेचनात्मक परिचय भी देने का प्रयास आपको मिल जायगा। अब तक प्राचीन गद्य की सामग्री इधर-उधर बिखरी पड़ी रही। अधिकांश अब भी अप्राप्य ही होगी। फिर भी अधिकाधिक संख्या में उनका एक व्यवस्थित और उचित ढंग से प्रतिपादित स्वरूप आपके सामने रख सका हूँगा तो शायद आप इसे अपने ढंग का पहला प्रयास कहेंगे; किन्तु इसके अनेक दोष, इसकी असम्पूर्णता और त्रुटियाँ ही मेरी निधि है जो निरन्तर कम-से-कम दोषपूर्ण सेवा के लिए प्रेरणा देती रहेंगी।

एक बात ब्रजभाषा-गद्य के बारे में कहने की धृष्टता करूँगा। वह यह कि अनेक विद्वानों और इतिहासकारों ने ब्रजभाषा-गद्य के लेखकों और उनकी भाषा को क्रमशः अप्रचुर तथा लद्धड़ और विचार न करने योग्य समझकर उपेक्षा की है। किन्तु देश, काल और परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए यदि देखा जाय तो उक्त पूर्वग्रह निराधार लगता है। इस ओर न्याय के लिए मैं विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना एक कर्तव्य समझता हूँ। यह मेरा मात्र निवेदन है, किसी के प्रति आरोप करना लक्ष्य नहीं।

मैं अपने पूज्य गुरुदेव डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति—जिनके समर्थ निरीक्षण में इस प्रबन्ध को विकास मिला है और जिनके चरणों में यह सादर समर्पित है—कोई आभार प्रकट करूँ, कृतघ्नता होगी। उनसे उऋण होना तो असम्भव है। श्रद्धेय पतराम गौड़ तथा प्रभुदयाल मीतल जी के प्रति

मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ कि दोनों महानुभावों ने पत्रों द्वारा अमूल्य सूचनाएँ और परामर्श देकर मेरा बहुत ही अधिक उपकार किया है। अपने विभाग के सभी गुरुजनों का आभारी हूँ कि उन्होंने यथा अवसर मेरे उत्साह की वृद्धि की है। विशेषकर श्रद्धेय डाक्टर श्रीकृष्णलाल जी ने तो पुस्तकों और अमूल्य विचारों द्वारा मेरी समस्त कठिनाइयों को उचित मार्ग-दर्शन कराया है। उनकी अनुकम्पा ने मेरे अधिकारों की जो सुरक्षा की है वह उनकी मर्यादा के अनुकूल ही है, क्या कहूँ! शब्दों द्वारा उनका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। प्रो० शम्भूनाथ सिंह, प्रो० मोती सिंह आदि श्रद्धेय मित्रों ने पुस्तकों तथा यथावसर परामर्श-दान द्वारा मेरा उत्साह सदैव बढ़ाया है। इनके प्रति मेरा रोम-रोम आभारी है। भाई विष्णु स्वरूप और शिवप्रसाद सिंह को थीसिस सुना-सुनाकर जो 'बोर' किया है, उसके लिए धन्यवाद नहीं दूँगा क्योंकि वे तो अपने हैं ही। श्री महेशशंकर श्रीवास्तव के प्रति जितना भी आभार प्रकट करूँ कम होगा, क्योंकि उन्होंने यदि दिन-रात एक करके इसे अंकित (टाइप) न किया होता तो सारा-का-सारा प्रयत्न व्यर्थ चला गया होता। मित्र ब्रजविलास जी ने नामानुक्रमणिका तैयार करने में मेरी जो सहायता की है वह अविस्मरणीय है। मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार के प्रति आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि उन्होंने अत्यन्त उदारतापूर्वक मुझे 'थीसिस' को इस रूप में प्रकाशित करने की अनुमति दी है।

अन्त में मैं उन सभी ज्ञात, अज्ञात विद्वानों और लेखकों के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता प्रकट करता हूँ; जिनसे या जिनकी कृतियों से मैंने सहायता ली है तथा जिनके विचारों के विरोध में कुछ कहने का 'लड़कपन' किया है। वे सभी मेरी श्रद्धा के पात्र हैं जो किसी भी रूप में मेरे सहायक हुए हैं और जिनका नाम स्मरण में नहीं आ रहा है।

—हरिमोहन श्रीवास्तव

विषय-सूची

मध्यकालीन हिन्दी गद्य

पुराने काव्यों में गद्य

गद्य और पद्य

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य ने अपने हृदय की भावनाओं के व्यावहारिक रूप को अभिव्यक्त करने के लिए जिस माध्यम का आश्रय लिया होगा, वह गद्य ही होगा। इस सामाजिक जन्तु को जीवन की सुरक्षा का ध्यान सर्व-प्रथम रहता है, अतः भावोद्रेक की अपेक्षा व्यवहार की आवश्यकता उसे पहले होती है। अस्तु, उत्पत्ति तथा व्यापकता की दृष्टि से गद्य, पद्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा व्यापक है। छन्दों तथा संगीत के अनुशासन में बँधने पर भाषा पद्य का रूप धारण करती है। पद्य और गद्य का अन्तर केवल इतना ही है कि जब हम अपनी रागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम ढूँढ़ते हैं तो पद्य की शरण जाना पड़ता है और तार्किक युक्तियों के प्रकटीकरण के लिए गद्य का आश्रय लेना पड़ता है। पद्य में छन्दोबद्धता पर अधिक आग्रह रहने के कारण कवि की सीमा निश्चित हो जाती है। वह अपनी कल्पना के सम्पूर्ण उत्कर्ष को उचित रीति से अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं पाता, किन्तु गद्य का लेखक स्वतन्त्र रहता है। इसलिए गद्य-लेखक का महत्त्व कवि-प्रतिभा को परखने की कसौटी होने के कारण बढ़ जाता है। प्राचीन आभाणक 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' का तात्पर्य यही है।

गद्य का महत्व

किसी देश का बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उत्कर्ष परखने के लिए वहाँ के गद्य का अवलोकन नितान्त आवश्यक है। कलात्मक भाषा में इतनी बातें नहीं समझी जा सकतीं जितनी बोलचाल की भाषा में। क्या पदार्थ-विज्ञान, समाज-विज्ञान, कानून, राजनीति तथा चिकित्सा आदि शास्त्रों के लिए पद्य वान्छनीय है? स्मरणशक्ति की सुरक्षा के लिए पद्य की उपयोगिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। किन्तु गद्य की भाँति पद्य, विषय की बारीकियों को नहीं देख सकता, न उनकी व्याख्या ही कर सकता है। जीवन के संघर्ष में जितना हाथ गद्य का है उतना पद्य का नहीं। किसी काल में, किसी देश की मूल प्रवृत्तियों तथा नैतिक स्तर का प्रतिबिम्ब उसके साहित्य में होता है। कविता द्वारा यदि हम उसकी आत्मा का पर्यवेक्षण करते हैं तो उसकी भौतिक उन्नति, उसके लौकिक व्यवहार आदि का अनुमान उसके गद्य से ही कर सकते हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु की प्राचीनता का सूत्र खोजने के लिए हमें वेदों तक की दौड़ लगानी पड़ती है ; उसी प्रकार गद्य भी असन्दिग्ध रूप से सर्व-प्रथम वेदों में ही आविर्भूत हुआ है। 'यजुर्वेद' की 'तैत्तरीय', 'काठक' तथा 'मैत्रायणी' संहिताओं में और 'अथर्ववेद' के छठवें भाग में गद्य की उपलब्धि होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में तो गद्य का साम्राज्य ही है।

गद्य की प्राचीनता

संस्कृत ग्रन्थकारों में 'महाभाष्य' की रचना करने वाले महर्षि पतंजलि, 'मीमांसा' के आधार-स्तम्भ शबर स्वामी, 'न्याय-दर्शन' के आचार्य जयन्त भट्ट तथा श्री शंकराचार्य के ग्रन्थ-विशेष में गद्य का अत्यन्त ललित प्रयोग हुआ है।[1]

सातवीं शताब्दी को संस्कृत गद्य साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है जिसमें सुबन्धु ने 'वासवदत्ता', बाणभट्ट ने 'कादम्बरी, तथा दण्डी ने 'दशकुमार-चरित' की रचना की। उसके अतिरिक्त 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' जैसी नीति-कथाएँ और 'बृहत्कथा' जैसी लोक-कथाओं का रूप भी प्रचलित था।

व्याकरण के घोर नियमन से संस्कृत भाषा स्त्री, बालकों और शूद्रों द्वारा ठीक-ठीक उच्चरित न हो पाती थी। अतः मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव के कारण शब्दों के तत्सम रूप में विकार उत्पन्न होने लगे। परिणाम-स्वरूप संस्कृत के अशुद्ध उच्चारण से तथा पाली और देशी शब्दों के मेल से जो नवीन भाषा उदित हुई, वह प्राकृत थी। यद्यपि प्राकृत के विकास के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य धारणा है कि इसका विकास संस्कृत से हुआ है। किन्तु प्रसिद्ध विद्वान चन्द्रधर शर्मा गुलेरी संस्कृत को 'धनवती अपुत्रा मौसी'[2] मानते हैं। फ्रेंच विद्वान पिशेल प्राकृत को बिल्कुल प्रकृति से उद्भूत वह भाषा मानते हैं जो समान रूप से सबको बिना सिखाए या पढ़ाए ही आ जाए।'[3] ए. बी. कीथ ने 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' की भूमिका, पृष्ठ २७, में ग्रियर्सन के मत का उल्लेख करते हुए बताया है कि वे (ग्रियर्सन) प्राकृत के तीन भाग कर, प्रारम्भिक के अन्तर्गत वैदिक तथा संस्कृत को भी मानते हैं। आगे चलकर इस प्राकृत के कई रूप हो गए। प्राकृत के पुराने वैयाकरण वररुचि ने 'प्राकृत-प्रकाश'

प्राकृत और गद्य

---

१. संस्कृत साहित्य में गद्य, 'कल्पना' में बल्देव प्रसाद मिश्र के लेख से।

२. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ८।

३. पिशेल—ग्रेमेटिक देर प्राकृत, स्ट्रेचा १९००, १६ ए. बी. कीथ द्वारा उद्धृत, 'ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ २७।

में चार प्रकार की प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है। ये हैं—महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, और पैशाची। वुलनर ने इन प्राकृतों का सबसे सुविधाजनक विभाग किया है। पाली को छोड़ कर उनके निम्नलिखित रूप हैं:—[1]

महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी } नाटकीय प्राकृत

अर्द्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी } जैन प्राकृत

महाराष्ट्री

महाराष्ट्री सर्वोत्कृष्ट प्राकृत समझी जाती थी। व्याकरण द्वारा सर्वप्रथम उसी का नियमन हुआ। नाटकों में जो स्त्रियाँ शौरसेनी में बोलती हैं वे महाराष्ट्री में गाती हैं। यह कवि-कल्पित नहीं वरन् गोदावरी के आस-पास के प्रदेशों में बोली जाने वाली भाषा के प्राचीन रूप पर आधारित सत्य है। इसमें आधुनिक मराठी की कितनी ही विशेषताएँ पाई जाति हैं।

शौरसेनी

शूरसेन में बोली जाने के कारण यह शौरसेनी प्राकृत कहलाई। साधारणतया यह संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होने वाली भाषा है, जिसे स्त्रियाँ और विदूषक बोलते हैं। 'कर्पूर मंजरी' में तो राजा भी इसी प्राकृत में बोलता है। शुद्ध संस्कृत के प्रदेश में उत्पन्न होने से यह उसके अत्यधिक समीप है अतः इसे हिन्दी और संस्कृत के बीच की श्रृंखला कह सकते हैं।

मागधी

मागधी पूर्व की प्राकृत को कहते हैं। नाटकों में वह निम्न जातियों द्वारा बोली जाती थी। इसके विषय में ए. बी. कीथ का मत है: 'दूसरी ओर मागधी निम्नवर्ग वालों की ही भाषा थी। यद्यपि इसमें भी कुछ कहानियों का निर्माण हुआ, फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से यह पूर्णतया महत्वहीन थी।'[2]

---

१. 'इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत' एलफ्रेड सी. वुलनर, पृष्ठ ४।

२. 'Magadhi on the other hand was reserved for those of low ranks, and though tales were composed in it, it was of comparatively minor importance.'—A. B. Keith, A History of Sanskrit Literature, P. 27.

अर्द्धमागधी : यह शूरसेन और मगध के बीच के प्रदेश की बोली थी। प्राचीन जैन सूत्रों का निर्माण इसी में हुआ था।

जैन महाराष्ट्री : श्वेताम्बरों द्वारा प्रयुक्त एक प्रकार की महाराष्ट्री।

जैन शौरसेनी : दिगम्बरों द्वारा प्रयुक्त एक प्रकार की शौरसेनी है।

'इन सब प्राकृतों के बीच महाराष्ट्री, नाटक के छन्दों तथा महाकाव्यों में प्रयुक्त होने के कारण, ख्यात थी। शौरसेनी साधारणतया गद्य की प्राकृत थी। यद्यपि यदा-कदा इसके दर्शन छन्दों में भी होते दिखलाई पड़े, किन्तु नाटकों के बाहर इसका प्रयोग, बाद की अपेक्षा पहले अधिक था। जैनों ने महाराष्ट्री का प्रयोग कभी-कभी गद्य और पद्य दोनों में किया, यद्यपि शौरसेनी गद्य के सामने महाराष्ट्री का गद्य नगण्य था।'[१]

इसी बात को बुलनर ने अधिक स्पष्ट रूप में रखने का प्रयत्न किया है—

'शौरसेनी साधारणतया स्त्रियों तथा विदूषक की गद्य भाषा है। महाराष्ट्री छन्दों की तथा मागधी निम्नवर्ग, बौने, विदेशी या इसी प्रकार के लोगों,—जैसे शकुन्तला में दो सिपाही तथा मछुवाहों-द्वारा प्रयुक्त भाषा थी। यह जैन साधुओं तथा छोटे-छोटे लड़कों द्वारा भी बोली जाती थी।'[२]

---

१. "Of the Prakrits Maharastri held pre-eminence by its use in drama, whence it was introduced perhaps by Kalidasa from lyric poetry, and by its adoptation for Epic-poetry, Caurseni was normally the prose Prakrit Though it appears to have been occassionally used in verse its employment in prose outside the drama was probably once much wider than was later the case when the Jains used a form of Maharastri for prose as well as for verse, though the presence of Caurseni forms in prose suggests that Maharastri is here intrusive."

(Introduction : A History of Sanskrit Literature—
A. B. Keith P. 27)

२. "Saurseni is the ordinary prose language of ladies and of the Jester. Maharastri is the corresponding verse dialect. Magadhi is used by menials, dwarfs, foreigners and the like, e g., the two policemen and the fishermen in Shakuntala. It is also spoken by Jain monks and small boys."

(Introduction to Prakrit, Page 86)

जैसा हम देख चुके हैं कि शौरसेनी के अतिरिक्त जैनियों द्वारा यदा-कदा जैन महाराष्ट्री में भी गद्य का प्रयोग हुआ था, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्य लेखक जो जैन नहीं थे वे महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग गद्य के लिए करते रहे होंगे। 'लीलावई कहा' नामक एक आठवीं शताब्दी का ग्रन्थ पाया गया है, जिसके लेखक का नाम कोउहल (कुतूहल) था, जो जैन नहीं था। 'लीलावती' है तो पद्य-काव्य पर कहीं-कहीं इसमें गद्य के भी कुछ अंश दिखलाई पड़ जाते हैं। कोउहल ने 'लीलावती कथा' को 'दिव्यमानुसी' प्रकार की संज्ञा दी है। जिससे ज्ञात होता है कि 'मानुसी' तथा 'दिव्य' दो और प्रकार की कथाओं का उस समय प्रचलन रहा होगा। लगता है कि तत्कालीन गद्य का रूप कथाओं और आख्यायिकाओं में ही अधिकतर प्राप्य था। बाद को कुछ आचार्यों द्वारा प्राकृत भाषा में प्रयुक्त होने पर ये कथाएँ गाथाओं के रूप में बदल गईं, अतः कथा और आख्यायिका के अन्तर को समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा। इस विषय पर तीन आचार्यों—भामह, रुद्रट तथा दण्डी ने अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं।

कथा और आख्यायिका

भामह ने आख्यायिका को 'ललित कथायुक्त मनोहर गद्य' कहा है।[1] यह उच्छ्वासों में विभक्त होती है तथा स्वयं नायक द्वारा कही जाती है। इसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग रहता है, इसके वर्ण्य विषय होते हैं—कन्याहरण, युद्ध, वियोग तथा विजय। किन्तु कथा के विषय में उनका मत है कि उसमें न तो छन्द, न उच्छ्वासों द्वारा उसका विभाजन ही होता है, न नायक स्वयम् कथा का वर्णन ही करता है। इसके लिए भाषा का कोई बन्धन नहीं है। वह संस्कृत तथा संस्कृतेतर प्राकृत और अपभ्रंश भी हो सकती है।

दण्डी

दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में भामह द्वारा किये गए कथा और आख्यायिका के भेद को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कथा और आख्यायिका को वस्तुतः एक ही श्रेणी की रचना मानी है[2] और उन्होंने उसके विभिन्न कारण दिये हैं जो अनुपयुक्त नहीं कहे जा सकते।

रुद्रट ने कथा का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने कहा है कि कथा में लेखक द्वारा क्रमशः देव या गुरु-स्तुति, कवि-वंश-वर्णन तथा रचना का

---

१. काव्यालंकार १, २५–२८।

२. काव्यादर्श, श्लोक २३–२८।

रुद्रट उद्देश्य आरम्भ में ही किया जाता है। इसमें सानुप्रास शब्दों का प्रयोग होता है। प्रारम्भ में कथान्तर द्वारा सम्पूर्ण कहानी का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाता है तथा इसके वर्ण्य-विषय होते हैं कन्यालाभ और श्रृंगार-भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति। संस्कृत में इसके लिए गद्य का प्रयोग होता है किन्तु अन्य किसी भाषा में यह छन्दों में लिखी जाती है।[1] नमिसाधु ने तो अपनी टीका में स्पष्ट शब्दों में कहा है 'अन्येना प्राकृतादिमापान्तरेण त्वगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात।' आख्यायिका के विषय में रुद्रट का मत है कि उसका प्रारम्भ छन्दों में, गुरु या देवस्तुति, प्राचीन कवियों की प्रशंसात्मक निन्दा, तथा कवि के ध्येय का विस्तृत वर्णन और किसी राजा की प्रशंसा या किसी गुणी व्यक्ति की प्रशंसा से होता है। सम्पूर्ण कहानी कथा की भाँति गद्य में ही होनी चाहिए। उसमें कवि तथा उसके परिवार का व्योरेवार वर्णन होना चाहिए। उच्छ्वासों द्वारा इसे भी विभक्त किया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक परिच्छेद के पूर्व दो आर्या छन्दों का होना आवश्यक है पर पहला परिच्छेद इसके अपवाद-स्वरूप माना गया है।

लगता है कि अपभ्रंश में लिखी कथाओं का ज्ञान भामह को अवश्य था। यह भी संभव है कि वैयाकरणों की भाँति उन्होंने भी अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृत से भिन्न सभी भाषाओं के व्यापक अर्थ में किया हो। दण्डी ने लिखा है कि काव्य में तो आभीरों की भाषा को अपभ्रंश कहते हैं किन्तु शास्त्र में संस्कृत से भिन्न सभी भाषाओं को अपभ्रंश कहते हैं।[2] संभव है, ऐसा कहते समय उन्हें पतंजलि के महाभाष्य का स्मरण रहा हो।[3] पैशाची प्राकृत में लिखित 'वृहत्कथा' का ज्ञान भी भामह को अवश्य था। जो भी हो, उन्होंने तत्कालीन प्रचलित तीन साहित्यिक भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, तथा अपभ्रंश की चर्चा की है। 'वृहत्कथा' के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यह गद्य में लिखी गई थी या पद्य में, परन्तु 'वसुदेव-हिन्डी' नामक गद्य-निबद्ध प्राचीन प्राकृत कथा उपलब्ध हुई है जो यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि प्राकृत में गद्य-बद्ध कथाएँ अवश्य लिखी जाती थीं।[4] वृहत्कथा का लुप्त हो जाना

१. काव्यमाला, नमिसाधु की टीका संयुक्त; प्रकाशित १९२८ बम्बई।

२. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। शास्त्रेतु संस्कृतादन्यदपभ्रंश-तयोदितम्। काव्यादर्श, ३६।

३. महाभाष्य १, पृष्ठ ५, एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोपभ्रंशा तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतालिकेत्यवभादयोऽपभ्रंशाः।

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ५४, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

दुर्भाग्य की ही बात है। इसकी और इसके लेखक की चर्चा ८७५ ई० में कम्बोडिया की एक संस्कृत प्रशस्ति में भी आई है। किन्तु इसकी भाषा का उद्धरण छोटे-छोटे दो खंडों में कोवेल द्वारा 'मनोरमा', भामह द्वारा 'प्राकृत-प्रकाश', (वररुचि की टीका का सम्पादन करते समय उद्धृत किया गया है) और एलफ्रेड बुलनर द्वारा इसकी सूचना 'इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत' के पृष्ठ ९१ पर मिलती है। कोवेल का ऐसा अनुमान है कि वे उद्धरण लुप्त बृहत्कथा के भी हो सकते हैं।

रुद्रट ने संस्कृत के अतिरिक्त पद्य कथाओं का जो उल्लेख किया है उसका स्पष्ट संकेत प्राकृत की ओर माना जा सकता है, जो गद्य-पद्य-मिश्रित रही होंगी। उदाहरण के लिए 'लीलावती कथा' का नाम लिया जा सकता है जो रुद्रट द्वारा बताए गए कथा के लक्षणों पर पूरी तरह उतर जाती है। जैसे—गाथा १–११ में देव-स्तुति है, तब क्रमशः सज्जन-दुर्जन-वर्णन, कवि-वंश-वर्णन, तब संगीतपूर्ण ललित गद्य में नगर-वर्णन है। इसका न तो उच्छ्वासों द्वारा विभाजन है, न नायक द्वारा कथा-वर्णन; वरन् एक स्वच्छन्द प्रवाह आरम्भ से अन्त तक निर्बाध प्रवाहित होता रहता है।

यद्यपि सम्पूर्ण 'लीलावई' पद्य में लिखी गई है किन्तु बीच-बीच में प्रयुक्त गद्य द्वारा प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखी जाने वाली कथाओं की शैली (टेकनीक) का अनुमान किया जा सकता है। उसमें प्राप्त गद्य-खण्डों की संख्या अत्यल्प है, वह भी छिटपुट रूप में, अतः मैं प्राप्य सभी गद्य-अंशों को उद्धृत कर देने में कोई असुविधा नहीं देखता।

२३ तथा २४ पद्यों के बीच का गद्य :

'पओस समये धवल भवणुत्तमंग सयण सुहासीणाए भणियं। पिययम पेच्छ पेच्छ।'

३१ तथा ३२ के बीच का गद्य :

'ता कि वहुणा पयंपिएण'।

४९ तथा ५० के बीच का गद्य :

'सुहावगाह णिम्मल जलासओ। तरुण तरुजाण रिद्धि रमणीओ। कमल सर संड मंडियासा मुहो। सुस्साय फल भरोणमिय वच्छयला वासिय पहिय जण समाउलो। सव्वोवसग्ग भय रहिओं। चाउवण्ण समाउत्तो। णिच्चसव बद्धियाणंदो। विविह काणणावसोहिय भूमि भाओ विविह कुसुमामोय वासिय दियंतरालो। अणवइण्ण कलि कालो। अइट्ठ पावो। अपरिचत्त धम्मो।

अगुवलविखय पयावो । अपणट्ठ सोहो। अषु भजाय योर राय मओ। अपरिमिय गुण गण णिवासो त्ति जहि चः काम परिसी भयवं पज्जणुलों । काम दुहाओं सुरहीओ । सरकलाओ वणषइओ । अवंझाओ जुवइसो त्ति। जहिं च ।'

पद १३०३ तथा १३०४ के बीच का गद्य :

'देव णियच्छसु ।'

इन गद्य-खण्डों के अतिरिक्त कुछ ऐसे छिटफुट शब्द भी प्रयोग में लाए गए हैं जो छन्दों के तारतम्य का परिचय कराते हैं। यथा अत्थि (अस्ति), अविय (अपि च), अहवा (अवथा), किं जहा (किं यथा), आदि-आदि । ये संयुक्ताक्षर भी पद-विहीन होने के कारण गद्य की ही कोटि में आ जाते हैं।

इस प्रकार की कथा के अतिरिक्त भामह ने जिस उच्छ्वास-विहीन प्रकार की चर्चा की है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि वैसी कथाएँ जिनका प्रभाव परवर्ती 'लीलावती' पर पड़ा, रही अवश्य होंगी। इसके अलावा प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक बड़ी-छोटी रोचक कथाओं के प्रचलन के उदाहरण हैं। कुछ तो 'उत्तराध्यायन' पर देवेन्द्र की लिखी हुई टिप्पणी में पाई जा सकती हैं। कुछ विद्वानों ने संस्कृत प्रणाली पर अपने प्राकृत ग्रन्थों में भी कुछ वस्तुएँ दी हैं, जिनके उदाहरण हैं—'रावनहो' तथा 'सेतुबन्ध'। चम्पू शैली में लिखित ई० उपरान्त ७७८ ई० में उद्योतन लिखित 'कुवलय माला' नामक प्राकृत की एक कथा है, जिसकी दो हस्तलिखित प्रतियों में से एक पूना तथा एक जैसलमेर में प्राप्य है। यह ग्रन्थ भी हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' की भाँति वृहद् ग्रन्थ है। इसमें तत्कालीन प्रचलित बोलचाल की भाषा के सुन्दर नमूने प्राप्य हैं। उदाहरण के लिए दो गद्य-खण्ड उपस्थित कर रहा हूँ :

'पालित्तय सालाहण छप्पणय सीहणाम सद्देहि ।

सखुद्ध मृद्ध सारंगउ व्व-कह ता पयं देमि। निम्मल गुणेण गुणगरुयएण परमत्थरमण सारेण । पालित्तएण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु । चवकाल जुयल-सुहया रम्मत्तणाराय हंसकयहरिसा। जस्स कुल पव्वयस्य व विचरइ गंगात-रंगवइ। भणिइ विलासवइत्तण चोलिवके चाविकले जो करइ हलएवि कव्वेण पउत्थे हाले हाला वियारेव्व । पणईहि कइयणेण च विलुप्पमाणो विहुणा झीणां ।'[1]

तथा दूसरा :

'सयलं पुहुइमंडलं परिभमिऊण संपतो महुराउरीए । एत्थ एवकम्मि

१. पृष्ठ २०४, काव्यमीमांसा, बड़ौदा, १९२४ में उल्लिखित ।

अणाहमंडवे पविट्ठो। अवि य तत्थ ताव मिलियालए कोढ्ढीए वलक्ख खइयए। दीण दुग्गय। अन्धलय। पंगुलय। मंदुलय। मडहय। वामणय। छिण्णणासय तोडियकण्णय। छिण्णोट्ठय तडिय। कप्पडिय। देविय। तित्थयतिय। लेहाराय। धम्मिय। गुग्गुलिय। भो(लो)-या। किंच बहुणा जो माउ पिउ रूट्ठेल्लउ सो सो सव्वो वितत्थ मिलिएल्लउ त्ति। ताहं च तेत्थु मिलिएलय सह समाणह एक्केक्क महाआलावा पयत्ता। भो भो! कयरहिं तित्थे दे। (वे) वा गयाहं कयरा वाहि पावं वा पिट्टइ त्ति। एक्केण भणिअं अमुक्का वाणारसी कोढिए हिं। तेण वाणारसी गयाणं कोढु प्फिट्टइ त्ति।[1]

ध्यान देने की बात यह है कि अच्छइ, आछ आदि जो प्रयोग परवर्ती ग्रन्थ में मिलते हैं वे करीब-करीब यहाँ भी हैं। जहाँ तक अपभ्रंश में किए गए कार्यों का प्रश्न है, उसका आधारभूत तत्व है 'कडवक'। परिच्छेदों अथवा संधियों द्वारा विभक्त इनका रूप कुछ स्वाभाविक-सा नहीं लगता। अतः यह असम्भव नहीं प्रतीत होता कि अपभ्रंश और प्राकृत में लिखी जाने वाली पद्य-कथाओं का रूप संस्कृत की अनुकृति पर विद्वान लेखकों द्वारा विभाजित कर दिया गया। जहाँ तक गद्य-कथाओं का सम्बन्ध है, प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में किसी गद्य-कथा का उल्लेख नहीं मिलता।

अपभ्रंश और गद्य

'कुवलय माला' और 'लीलावई' के गद्यों का रूप संस्कृत के गद्य से पूर्णतया भिन्न रहा, यद्यपि वाक्यों में समासबाहुल्य तो उसी प्रकार है किन्तु शैली वृत्तगन्धि-प्रधान ही है, यथा :

'सुहावगाह निम्मल जलासओ। तरुण तरुज्जाण रिद्धि रमणीओ'[2]

या

निम्मल गुणेण गुणगरुयएण परमत्थ रयणसारेण[3]

में क्रमशः 'जलासओ' तथा 'रमणीओ' में ओ तथा गुणेण, एण, सारेण आदि के अन्तरतुकों से निबद्ध वाक्यों के प्रयोग होने लगे थे। तुकों की यह अलंकृत प्रवृत्ति धीरे-धीरे परवर्ती गद्य में भी पल्लवित होती दिखाई पड़ती है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २०।

२. लीलावई कहा, पृष्ठ १२।

३. काव्यमीमांसा, पृष्ठ २०४।

अपभ्रंश तथा अवहट्ट

प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में साहित्य के पद पर आरूढ़ रहने वाली भाषा के अतिरिक्त सामान्य लोगों की एक लोकभाषा भी चलती रहती है, जो बँधी हुई भाषा में मिल जाती है। गुलेरी जी के शब्दों में :

देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी-मार्ग पर चला आया, बाँधा न गया। उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका अपभ्रंश (नीचे को बिखरना) होने लगा।[१]

ईसवी शताब्दी पूर्व अपभ्रंश शब्द का प्रयोग, भ्रष्ट या च्युत भाषा में होता था। 'भरत' के 'नाट्यशास्त्र' में इसका नाम 'आभीरोक्ति' रूप में लिया गया है। दण्डी ने काव्य से वंचित आभीर तथा गुर्जर जाति आगन्तुक की भाषा को अपभ्रंश बतलाया।[२] पतंजलि ने 'महाभाष्य' में अपभ्रंश के शब्दों को संस्कृत से भिन्न माना। प्रारम्भ में इसको आभीरी-भाषा माना जाता था, पर बाद में चलकर यह लोकभाषा का ही नामान्तर हो गया। भरत मुनि ने लक्ष्य किया था कि आभीरों के अधिकृत जो-जो प्रदेश थे, यथा सिन्धु, सौवीर और हिमालय के अंश विशेष में, वहाँ उकार-बहुला भाषा जनसाधारण में प्रचलित हो चली थी। भाषाशास्त्रियों में से कई लोगों का अनुमान है कि यह उकार-बहुला भाषा अपभ्रंश से मिलती-जुलती होगी।[३] आगे चल कर यह भाषा इतनी समृद्धिशालिनी हुई कि हेमचन्द्र को प्राचीन तथा प्रचुरयुक्त पदावली का अनुसरण कर उसका व्याकरण लिखना पड़ा। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का अनुमान है कि 'प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि।'[४]

---

१. पुरानी हिन्दी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पृष्ठ ८।

२. काव्यादर्श, दण्डी १-३-६।

३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २३ में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत : हिमवत सिन्धु सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः उकार-बहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत १७-६१।

४. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ४८, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।

किन्तु "प्राकृतसर्वस्वकार" मारकण्डेय ने अपभ्रंश के तीन भेद माने हैं। नागर, उपनागर और ब्राचड़। अपभ्रंश काल के पूर्व के साहित्यिक, शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रयोग करते थे। छठी शताब्दी में अपभ्रंश का प्रयोग काव्य में होने लगा था। किन्तु जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, कथाओं आदि में कहीं अपभ्रंश गद्य का प्रयोग नहीं पाया जाता। अपभ्रंश सम्बन्धी विवाद में पड़ने का मेरा केवल इतना ही तात्पर्य है कि भाषा के विकास-क्रम के साथ-ही-साथ मैं विषय का रूप रखता चलूँ।

अपभ्रंश के ही समान उसकी परवर्ती भाषा अवहट्ट के विषय में भी बड़ा विवाद है, इसका नाम 'संदेशरासक' (अद्दहमाण) 'प्राकृत पैंगलम्', 'वर्ण-रत्नाकर' तथा 'कीर्तिलता' में आया है। विद्यापति ने इसे 'सवजन मिट्ठा अवहट्ठा' उसी प्रकार कहा है जैसे 'कर्पूर मंजरी' के रचयिता को संस्कृत परुष और प्राकृत सुकुमार भाषा जान पड़ी थी।[१] इस अवहट्ट का साहित्य ही पृथक है, तथा यह अपभ्रंश से भिन्न भाषा है। कुछ लोगों ने इसे 'मिथिला अपभ्रंश'[२] तथा कुछ ने 'शौरसेनी अपभ्रंश' का ही अर्वाचीन रूप कहा है।[३] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे पूरबी अपभ्रंश माना[४] तथा हरप्रसाद शास्त्री ने सं० १२०० की बंगला भाषा बताया। श्री शशिनाथ झा के अनुमान से तो 'अवहट्ट कोई भाषा नहीं है किन्तु जिस प्रकार मिष्ट का अपभ्रंश रूप मिट्ठा है, उसी प्रकार हृष्ट का भी अपभ्रंश रूप हट्ट है। प्रायः कवि का अभिप्राय है कि मैं हृष्ट होकर यानी खुशी-खुशी देशी भाषा में साहित्य का निर्माण कर रहा हूँ। अवहट्टा में अव संस्कृत उपसर्ग 'अव' का रूप हो सकता है।'[५]

यह अत्यन्त भ्रमपूर्ण और भावावेश-युक्त तर्क है। लगता है झा जी 'मिष्ट' के 'मिट्ठा' से चमत्कृत होकर 'हट्टा' को भी उसी में लपेट लेना चाहते हैं। क्योंकि अवहट्ट का प्रयोग विद्यापति के पूर्व 'संदेशरासक' तथा 'वर्णरत्नाकर' में

---

१. परुसा सक्कअबन्धा पाउअ बन्धो वि होइ सुउमारो। पुरिस महिलाउं जे त्तिमिहन्तर ते त्तिमिमाणम्। क. मं. १-७।

२. कीर्तिलता, पृष्ठ १८, सम्पादक, डा० बाबूराम सक्सेना।

३. हिन्दी भाषा, पृष्ठ १९, डाक्टर श्यामसुन्दर दास।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६।

५. साहित्य पत्रिका, विहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मुखपत्र, कार्तिक सं.—२००७, अक्टूबर १९५० ई० में प्रकाशित लेख 'विद्यापति की काव्य माधुरी', शशिनाथ झा, पृष्ठ २५।

हो चुका है। जो भी हो, विद्यापति के अवहट्ट को हम स्वतंत्र भाषा भी मान सकते हैं। 'बौद्धगान ओ दोहा' के अवहट्ट में प्रान्तीय प्रयोगों की प्रधानता देखकर कुछ लोग उसे बंगला का उदाहरण मानते हैं। 'ज्ञानेश्वरी-गीता' के अपभ्रंश में भी प्रान्तीय मराठी प्रयोग के मिश्रण से उसमें अवहट्ट का ही स्वरूप झलकता है। उसी प्रकार डिंगल की विशेषता लिये हुए रासो का अपभ्रंश भी अवहट्ट ही है। इस अवहट्ट भाषा में गद्य का रूप प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' का नाम इसमें सर्वप्रमुख है।

गद्य में लिखित इस रचना को वाणभट्ट की 'कादम्बरी', 'हर्षचरित', और धनपाल की 'तिलकमंजरी' की परम्परा का विकास नहीं कहा जा सकता है।

वर्णरत्नाकर और उसकी भाषा

यद्यपि यह गद्य ग्रन्थ ही है, तथापि इसमें वर्ण्य विषयों की सूची देने का प्रयत्न ही प्रमुख है। मैथिलि भाषा का सर्वप्रथम ग्रन्थ होने के कारण इसका वही स्थान है जो बंगला के 'चर्यापदों', 'श्री कृष्ण कीर्तन' तथा मराठी के 'ज्ञानेश्वरी' का है। मैथिलि गद्य में वर्णनात्मक पद्धति का अनुसरण ठाकुर ज्योतिरीश्वर ने इसमें नया-नया नहीं किया है। ई. पू. जैन साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिल चुके हैं। मुनि जिनविजय जी के अनुसार तो पाली में भी ऐसे वर्णन प्राप्य हैं। संस्कृत और प्राचीन गुजराती में तो ऐसे वर्णन भरे पड़े हैं।

वर्णों का यह रत्नाकर सात कल्लोलों[1] में; नगर-वर्णन, नायिका, स्थान, ऋतु आदि वर्णनों में विभाजित है। इसकी भाषा का नमूना देखिये :[2]

'एके अपूर्व विश्वकर्म्मञि निर्म्मउलि याक मुखक शोभा देखि पद्मे जल प्रवेश कएल० आम्रिक शोभा देख हरिण वण गएल० केशक शोभा देख चमरी पलायन कएल० दाँतक शोभा देखि प्रवाल द्विपान्तर गेल० कानक शोभा देखि वौद्ध ध्यानावस्थित भेल० कण्ठक शोभा देषि कम्बु समुद्र प्रवेश कएल० स्तनक शोभा देषि चक्रवाक उच्छुन्न भेल० पाउयुगलक शोभा देषि पद्मुक नाल पंक निमग्न भेल०……जंघयुगलक शोभा देषि कदली विपरीत गति कइलि० चरणक शोभा देषि स्थल कमले निकुञ्ज आश्रय कएल० एवम्बिध रत्नालंकारयुक्ति त्रिभुवनमोहिनी देषु।'

१. यद्यपि आठवाँ कल्लोल भी हस्तलिखित प्रति में है पर वह खंडित है।
२. वर्णरत्नाकर, सखी-वर्णन, पृष्ठ २०।

कहीं-कहीं भाषा-प्रवाह में अनुप्रासों की अलंकृत शैली लाने का प्रयत्न भी ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने सफलतापूर्वक किया है, यथा :

'पुनु कैसन देषु : नागल तांगल तापसि तेलि ताति तिवर तुरिआ तुतुल तुरकटारूअ धेओल धांगल धाकल धानुक धोआर धुनिया धालिमार'...आदि।[1]

'कीर्तिलता की' भाषा

इस बात की चर्चा पहले ही हो चुकी है कि 'वर्णरत्नाकर' की परम्परा संस्कृत तथा प्राचीन गुजराती से भिन्न रही। किन्तु इसके परवर्ती चम्पू शैली में लिखित 'कीर्तिलता' के गद्यांश का निर्माण भी सारा का सारा संस्कृत के आधार पर ही हुआ है। वही लम्बे-लम्बे समास यथा—

'प्रबल शत्रु बलसंघट्ट सम्मिलनसम्मर्दसंजातपदाघाततरलतरतुरंग[2] खुर क्षुन्न वसुन्धरा धूलि संभार घनान्धकार श्यामसमरनिशाभिसारिकाप्राय जयलक्ष्मी कर ग्रहण करेओ'।[3]

तथा विशेषण पर विशेषण की पद्धति, जैसे—

'हृदय गिरिकन्दरा निद्राण पितृवेरी केशरी जागु'।[4]

स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कहीं-कहीं पर केवल एकाध क्रिया को छोड़कर अथवा अव्यय के अतिरिक्त शब्दावली भी प्रायः संस्कृत ही है। इन बातों के अलावा 'कीर्तिलता' के गद्य में हम प्राकृत की उस परम्परा का रूप सुरक्षित पाते हैं जो रुद्रट तथा भामह द्वारा बताई गई कथाओं और आख्यायिकाओं में पाया जाता है।

इसमें भी प्रारम्भ में मंगलाचरण (संस्कृत के दो श्लोकों में) कलियुग की दुरवस्था का वर्णन, कवि का अपने विषय में कहना, सज्जन-दुर्जन-निन्दा, तब कथा प्रारम्भ होती है।

दूसरे, जिस प्रकार प्राकृत कथाओं में गाथाओं के बीच-बीच में गद्य आ जाता था, उसी प्रकार 'कीर्तिलता' का गद्य भी छन्दों के बीच-बीच में आता है। सम्पूर्ण कथा गद्य-पद्य-मय है। प्राकृत कथाओं में या तो स्वयं कवि या नायक वर्णन करता है, किन्तु इसमें भृंगी को कीर्तिसिंह का चरित सुनने की इच्छा होती है और भृंग उसका वर्णन करता है, यथा—'अथ भृंगी पुनः पृच्छति'

---

१. वर्णरत्नाकर, पृष्ठ १।
२. तरंग पाठ भी सक्सेना जी ने दिया है।
३. कीर्तिलता पृष्ठ, १४।
४. वही, पृष्ठ १८।

सम्पूर्ण 'कीर्तिलता' उच्छ्वासों की भाँति ही चार 'पल्लवों' में विभाजित है जो 'लता' के लिए उपयुक्त ही है। पहली बात ध्यान देने की यह है कि अनुप्रास या अलंकरण की जो प्रवृत्ति 'लीलावई' के ४९ तथा ५० गाथा के बीच से उद्धृत गद्य में दिखाई पड़ी थी, उसकी तो जैसे 'कीर्तिलता' में भरमार-सी है। लगता है, फारसी पद्धति पर पादपूरक अनुप्रासों और तुकों की शैली का प्रभाव विद्यापति तक काफी जोर पकड़ चुका था। या संभव है, उन्होंने भाषा में जोर लाने के लिए ही ऐसी पद्धति का आश्रय लिया था, यथा—

'जेन्हे राजे अतुलतर विक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलनाजे साहस साधि पातिसाह आराधि दुष्ट करेओ दप्प चूरेओ पितृवैरि उंद्धरि साहि करो मनोरथ पूरेओ'।[1]

में राजे का तुक 'तुलनाजे' 'साधि' का 'आराधि' 'करेओ' का 'चूरेओ' तथा 'पूरेओ' है।

दूसरी बात जिस पर ध्यान जाता है, वह यह है कि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' को काहाणी कहा है। 'पुरूस काहाणी हउ कहउ'। उन्होंने इसे कथा नहीं कहा। इससे ज्ञात होता है कि इसमें कथा के कुछ लक्षणों के छूट जाने से ही ऐसी संज्ञा दी गई है। काशी के दामोदर भट्ट के 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' से इस कहानी की सूचना मिलती है। यहाँ उल्लेख योग्य है कि विद्यापति की एक अन्य पुस्तक 'कीर्तिपताका' है जिसमें प्रेम-कथा वर्णित है। सम्भवतः विद्यापति ने कथा के दोनों उद्देश्यों 'युद्ध' और 'प्रेम' के लिए अलग-अलग पुस्तकें लिखी थीं।[2]

तीसरी बात ध्यान देने की है कि 'कीर्तिलता' तत्कालीन देश-भाषा साहित्य के गुणानुवाद प्रधान चरित काव्यों के अनेक लक्षणों से संयुक्त है। उस प्रकार के प्रशंसात्मक काव्यों में सबसे अधिक ऐतिहासिक और प्रामाणिक भी है। इसके अतिरिक्त उसमें प्रायः सभी उन छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनका प्रयोग रासो में मिलता है। अतः लगता है कि इस प्रकार के काव्यों को इसी तरह से लिखने की परम्परा विद्यापति के सामने थी। क्या रासो का ही आदर्श होना विद्यापति के लिए संभव नहीं? यह तो निश्चित ही है कि रासो की ही भाँति उसमें भी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग है। विद्यापति ने रासो के ही आधार पर कीर्तिलता का निर्माण किया था, ऐसा अनुमान करने

१. वही, पृष्ठ १४।

२. हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, पृष्ठ ७९, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

का एक और कारण है। वह है रासो में प्रयुक्त बचनिका। राजस्थानी के सुप्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ 'रघुनाथ रूपक' में प्रसिद्ध छन्दों एवं गीतों के लक्षण एवं उदाहरण देने के पश्चात् गद्य के दो भेद किए गए हैं। १. दवावैत और २. बचनिका। इन दोनों के भी दो-दो भेद किए गए हैं। दवावैत के शुद्धबन्ध और गद्दबन्ध। बचनिका के पदबन्ध और गद्दबन्ध।[1] हम देख चुके हैं कि प्राकृत की पद्यबद्ध कथाओं में थोड़ा-थोड़ा गद्य भी रहा करता था, जैसा कि 'लीलावती' में। 'कीर्तिलता' तो गद्य-पद्य-मय है ही और रासो का गद्य भी बचनिका ही है।

अतः इन बचनिकाओं से दो लाभ तो स्पष्ट हुए। पहला यह कि हिन्दी का गद्य साहित्य और भी पीछे चला जाता है। दूसरा यह कि रासो उन दिनों की प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं के सम्पूर्ण लक्षणों से संयुक्त उन्हीं की परम्परा की एक कड़ी है। अतः रासो के विषय में ऐसा अनुमान न करने का कोई कारण नहीं दीखता कि 'रासो' 'कीर्तिलता' का पूर्ववर्ती ग्रन्थ रहा तथा 'कीर्तिलता' उसी की अनुकृति पर निर्मित 'काहाणी' है। इस अनुमान से कथा, आख्यायिका तथा अन्य स्थलों पर प्रयुक्त गद्यों के क्रमिक रूप का स्पष्ट आभास तो मिल ही जाता है तथा साथ-साथ परवर्ती गद्य शैली के विकास का सूत्र भी हाथ लग जाता है। प्राकृत से चली हुई गद्य शैली की यह धारा कहीं क्षीण, कहीं स्फीत, कहीं सुढार तथा कहीं विलीन होती हुई राजस्थानी और व्रजभाषा को बाँधती खड़ी बोली में आकर पूर्णत्व प्राप्त करती है।

---

१. कल्पना, मार्च १९५३ में 'राजस्थानी गद्य-काव्य की परम्परा', ले० अगरचन्द नाहटा।

तत्कालीन गद्य की अन्य सामग्री

'कीर्तिलता' के अतिरिक्त 'कीर्तिपताका' (विद्यापति कृत) में भी गद्य की सूचना मिल चुकी है। इसके अतिरिक्त भारतीय विद्या-मन्दिर के संचालक मुनि जिनविजय जी को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' मिला है। इसमें बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है।[१] डॉ० मोतीचन्द ने 'सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ' में एक लेख लिखकर बताया है कि इस पुस्तक में तत्कालीन काशी की भाषा का रूप पाया जाता है। वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब, यह बारहवीं शताब्दी की बनारसी भाषा का नमूना है। स्पष्ट ही इस वाक्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार 'छात्र गाउ या' में छात्र शब्द किसी अपभ्रंश पुस्तक की भाषा के समान 'छत्तु' नहीं बन गया है। और 'प्रज्ञा' में 'प्रज्ञा' तत्सम रूप में ही व्यवहृत हुआ है। इस पुस्तक से और भी बहुत-सी बातों का पता चलता है। महत्त्वपूर्ण और जानने योग्य बात यही है कि उस समय इस भाषा में कथा-कहानी का साहित्य रचित होने लगा था।[२] निश्चय ही उसकी भाषा का रूप गद्यात्मक रहा होगा जो अब अप्राप्य है।

श्री अगरचन्द जी नाहटा ने 'जर्नल आफ दि यू. पी. हिस्टारिकल सोसाइटी' की बारहवीं जिल्द में तरुणप्रभ सूरिनायक (चौदहवीं शती के जैन विद्वान्) की गद्य रचना 'दशार्णभद्रकथा' की सूचना प्रकाशित कराई है। इसकी भाषा में तत्सम शब्दों की उसी प्रकार भरमार है, जिस प्रकार 'कीर्तिलता' के गद्य में है।[३]

शिवपूजन सहाय तथा नलिनविलोचन शर्मा के सम्पादकत्व में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की त्रैमासिक पत्रिका 'साहित्य' ने इधर हस्तलिखित प्राचीन पोथियों के संग्रह का प्रशंसनीय कार्य प्रारम्भ किया है। इसमें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, की ओर से डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के तत्त्वावधान में श्री रामनारायन शास्त्री बिहार भर में ग्रन्थ-शोध करते हैं। इनकी खोज संख्य (१६: क) सतनाम[१] 'भगतमहातम कथा' नाम की पुस्तक है।

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ८, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ १८, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

३. वही।

इसमें भक्ति सत्संगति और योग के आधार पर नारद के साथ राजा का संवाद दोहे और चौपाइयों में है। ग्रन्थ के आरम्भ के ५ पृष्ठ नहीं हैं।[१] यह ग्रन्थ कबीर रोसडा महन्त श्री अवधदास साहब के सौजन्य से मिला है। इसमें भी गद्य का प्रयोग है। शोधकर्ता ने इसकी भाषा हिन्दी और लिपि नागरी बतायी है तथा लेखनकाल संवत् १२७८ वैशाख सुदी पंचमी रविवार बताया है।[२]

इस दृष्टि से यह हिन्दी साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध होगा, इसकी भाषा का नमूना है :

इति श्री भग्न महातम सम्पूरन समापतह। जो देखा सो लिखा मम दोख नेंही। अन्त सकल सन्त सो वीनती मोरी छुटल अक्षर मात्ता पठव सब जोरी पोथीक मौलिक श्री श्री श्री स्वामी गोपालदासजी मोकाम साः तैधरा प्रग० मलकी पुश शुदी तीन तीश्रा रोज ऐतीवार का अढ़ाई पहर दीन उठते तैयार भेल दसखत ......[३]

उसी १६ वीं का [ख २] खोज भी नागरीलिपि में हिन्दी भाषा की रचना का पता देती है। इसका भी लेखनकाल सं० १२७८ साल आषाढ़ सुदी चतुर्दशी शनिवार है। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'भोपालबोध' (भवपालबोध) है। इसका रचनाकाल तथा लेखक भी पूर्वोलिखित ग्रन्थ की ही भाँति अज्ञात है। उपरोक्त तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक हैं क्रमशः गोधनलाल तथा गोन्दरलाल। इस ग्रन्थ के साथ दो पृष्ठों का अमरमूल है तथा नेहादास का लिखा ग्रन्थ भी है कः और खः दोनों ग्रन्थ एक जिल्द में एक साथ ही हैं।[४]

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय धर्मराज ज्ञानी और भूपाल के परस्पर वार्तालाप द्वारा जीवन, ज्ञान, मोक्ष और जीव के सम्बन्ध में विवेचन है। साखी, दोहा, सोरठा और चौपाइयों में रचना की गई है। ग्रन्थ श्री महन्त अवधदास साहबजी रोसडा, कबीरमठ के सौहार्द से पाया गया है[५]। इसमें भी गद्य का कुछ अंश पाया जाता है। यह लिपिकर्त्ता की ओर से लिखा गया है फिर भी सं० १२७८ में इसका लिपिकाल होने से इसकी उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आने पाता। इसका उदाहरण देखिए...

---

१. साहित्य, वर्ष २ चैत्र संवत् २००८ अप्रैल १९५१, अंक १, पृष्ठ ६९।
२. वही।
३. साहित्य, वर्ष २ चैत्र संवत् २००८ अप्रैल १९५१, अंक १, पृष्ठ ६९।
४. वही पृष्ठ ७०।
५. साहित्य, वर्ष २ चैत्र संवत् २००६ अप्रैल १९५१, अंक १, पृष्ठ ७०।

ऐती श्री ग्रन्थ भोपाल बोध संपूरनं समापतः जो देषा सो लीषा मम दोष नेंही अंते सकल संत सो बीनती मोरी छुटक अछर मंत्रा पठब सब जोरी बीती असाढ़ सुदी चतुरसी रोज सनीचर के डेढ़ पहर दिन उठते ग्रन्थ तैयार भैल ग्रन्थ के मालिक श्री गोसाई गोपालदास साकीन तैधरा प्रगने मलकी दं अधीत संत गोन्दरलाल साकिन ब्रौनी प्रगने मलकी ता० २९ असाढ़ रोज शनीचर शं० १२७८ साल[१]

यदि उपर्युक्त ग्रन्थों की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो तो निश्चय ही ये हिन्दी साहित्य के गौरव ग्रन्थ होंगे। किन्तु लेखक और लेखनकाल का अभाव तथा भाषा की आधुनिकता रोज, ऐतीवार, तैयार, प्रगना, आदि शब्द कुछ शंका उत्पन्न करते हैं। मुझे तो लगता है कि प्रति 'क' के लेखक गोधनलाल को ही 'ख' प्रति का लेखक गोन्दरलाल होना चाहिए। क्योंकि दोनों प्रतियों के मालिक एक ही हैं तथा दोनों प्रतियाँ भी एक ही जिल्द में हैं और एक ही स्थान से पाई गई हैं। फिर भी इन ग्रन्थों की महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, यद्यपि इनकी प्रामाणिकता के विषय में खोज नितान्त अपेक्षित है, विशेषतः लिपिकाल के सम्बन्ध में।

इसके अतिरिक्त एक बात का और उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि हमारे इतिहास लेखकों द्वारा अपभ्रंश के साहित्य को ही हिन्दी का पूर्वरूप माना गया है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी पुस्तक में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। स्वर्गीय पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना ही अधिक पसन्द करते हैं।[२] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास के प्रथम संस्करण में आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश रचनाओं की भी गणना की थी क्योंकि सदा से वह भाषा इसी काल के अन्तर्गत मानी जाती रही है। सुप्रसिद्ध विद्वान श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी कहा है।[३]

अपभ्रंश काल की इतनी दुहाई देने का मेरा उद्देश्य केवल उस लाभ की सुरक्षा ही है जो श्री एन. बी. दिवेटिया द्वारा उद्धृत गुर्जर अपभ्रंश[४] के गद्य खण्डों के लिए उत्पन्न हुआ है। उन्होंने श्री चिम्मनलाल दलाल द्वारा दी गयी

१. वही।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण भाग २।
३. हिन्दी साहित्यः उसका उद्भव और विकास, पृष्ठ २, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४. गुजराती लैंगवेज एण्ड लिटरेचर, वाल्यूम २, पृष्ठ ४७, एन. बी. दिवेटिया।

रिपोर्ट से जिन्हें प्राप्त किया है और जिनका काल विक्रम संवत् १२५७ से १४९७ तक है। मैं अविकल रूप से उन्हें उद्धृत किये देता हूँ।

वी. एस. १२५७[1]

नवकारव्यासान[2]

पउ नमस्कारू अतीत अनागत चउव्रीस आदि जिनोक्त सारूसु तुम्हें विसेवहइ हियडातणइ प्रस्तावि अर्थयुक्त ध्येयु ध्यातन्यु मुणेयउ पढेयउ।

वी. एस. १३८०

आलायण ट्रांसलेशन[3]

'तिणिकारणि चतुर्दश पूर्वधर चतुर्दश पूर्व संबंधिड़ ध्यातु परित्यजिउ पंचपरमोष्ठ नमस्कारू स्मरहु तउ तुम्हि विशेषि स्मरेवउ अनह परमेश्वरि तीर्थंकरदेवि इसउ अर्थ भगियउ अछइं अनइं संसारतणड प्रतिभउम करिसउ अनइ ऋद्धि नमस्कारू इहलोक संपादियइ।'

इसी प्रकार अन्तिम विक्रम संवत् १४९७ का संग्रहणी वालावबोध का उद्धरण है जिसका लिपिकाल विक्रम संवत १५४८ है[4] यथा...

'सद्गुरुकन्हलि पूछि विशेष अर्थतुं ग्रहण करिवउं। जै भव्य जीव छइ तेहनइ ए संघयाणिनु विचार कहतां कर्मक्षय होइ तहतणइ भव्यतणइ ए विचार जेइ वु जाणिवु जिमते मध्य जीवनइ ऋद्धिवृद्धि होइ।'[5]

इसके उपरान्त दिवेटिया जी ने गुजराती के पूर्व के कुछ गद्य के उद्धरण दिए हैं, जो विक्रम संवत १५१५ से १६२९ तक हरिविजयसूरि के शिष्य द्वारा लिखित 'बैतालपचीसी' से हैं। पृष्ठ ५० पर 'उन्होंने पारसी लेखक बहराम लखमीधर (१५०७) का एक उद्धरण दिया है जिसकी भाषा इस प्रकार है—

समस्याण बलइं इह ३ त्तन वेदंत मम छांडोर ताह आतस लइ वि। जात की जई। समस्यान नहार सीलवा दीजि तिहाँ थकी ३ त्रन। वहेत भूम छांडोइ। नतो जेरत कीजि। जीत मांहितु आतस। लई तालगि जोत कीजि।

१. वही।
२. गुजराती लैंगवेज एण्ड लिटरेचर, वाल्यूम २, पृष्ठ ४४ श्री एन. बी. दिवेटिया।
३. वही।
४. वही।
५. वही पृष्ठ ४६।
६. गुजराती लैंगवेज एण्ड लिटरेचर, वाल्यूम २, पृष्ठ ५०, एन. बी. दिवेटिया।

तां लगि आगली जीतनु ठाहार सील्लाइ। तिहांथकु । लइ नि मेलवीइ वीजी जोत कीथी आछि तिहानुं ठाहार सीलाइ। तां लगि पात्रि रहिवा दीजि । ने तीवार पछी सहस्र जोत प्रमाण छइ।'

दिवेटिया जी की ही भाँति श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद[1] शीर्षक निबन्ध में प्रकाशित 'अपभ्रंश काव्यत्रय'[2] का उल्लेख किया है। उसके परिशिष्ट के 'कुवलय कथा माला' नामक काव्य के कुछ अवतरण मैं पहले ही उद्धृत कर चुका हूँ। भालेराव जी ने उक्त अपभ्रंश भाषा ग्रन्थ का लिपिकाल चैत्र कृष्ण १४ शाके ७०० सन् ७७८ दिया है।[3] इसकी भाषा तो प्राकृत है किन्तु प्राकृत के अतिरिक्त अन्यान्य १८ तत्कालीन भाषाओं का उस समय अस्तीत्व था, ऐसा उल्लेख उसमें है। उन्होंने उसमें से कुछ हिन्दी के उदाहरण स्वरूप प्राचीन रूपों की व्याख्या की है।[4] यथा...

मूल प्राकृत	संस्कृत छाया	हिन्दी अर्थ
१. तेरे मेरे आउति	तेरे मेरे आओ	तेरे मेरे आओ
२. जम्पई मज्फ देसेय	इति जल्पता मध्य देशांश्च	कहने वाले मध्यदेशियों को उसने देखा
३. भाउअ भइणि	भा भणताथ	भाई बहन
४. अहमालव दिट्ठे	मालवीयान दृष्टिवान	मालवियों को उसने देखा।

प्राचीन हिन्दी का उपरोक्त उदाहरण देने का उनका तात्पर्य केवल यह बतलाना है कि हिन्दी के आदि कवि चन्दबरदाई के समान तथा उसके पूर्व से लगाकर वर्तमान काल तक सुदूर प्रान्त महाराष्ट्र तथा गुजरात में केवल हिन्दी का प्रचार ही नहीं हुआ वरन् रचना भी हुई। अतः वे सबसे पहिले महाराष्ट्र प्रान्त के हिन्दी साहित्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए चन्द, गोरख, विद्यापति-काल के समकालीन कवि सोमेश्वर, जो चालुक्य वंशीय राजा था, तथा जो सर्वज्ञ भूप नाम से विख्यात था—उस का उल्लेख करते हैं। उनका 'मानसोल्लास' अर्थात् 'अभिलाषित चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, संवत् १९८६।

२. गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, २७ वाँ भाग।

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृष्ठ सं० ८९, भाग १० सं० १९८६।

४. वहीं।

मिला है। इस ग्रन्थ में लगभग प्रन्द्रह विषयों का वर्णन किया गया है। जिसमें समाज, भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी, घोड़े आदि का भी वर्णन है। रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पद्यों के भी उदाहरण हैं। लाटी-भाषा के जो उदाहरण हैं वे पूर्वकालिक हिन्दी से मिलते हैं अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि महाराष्ट्री की पुरानी हिन्दी का रूप इस प्रकार था। यथा :

'नन्द गोकुल जायो कान्ह जो गोरी जणे पडि हेली के नयणों जो किया थदणा भरआ बिना हनाणि हक्कारिया कान्हां भरडा सो आहन्णा चितिया देउ वुध रूपण जो दाणव पुरां बचउणी वेद पुः रूपेण'[1] (मानसोल्लास)

दूसरा नाम उन्होंने महानुभाव पंथ के आदि आचार्य चक्रधर का लिया है। इनके ५०० शिष्यों तथा स्वयम् उन्होंने जो फुटकर पद्य तथा गद्य में ग्रन्थों की रचना की है, भालेराव जी उसको मराठी की आदि रचना कहते हैं। चक्रधर लिखित कविता तथा गद्य की एक पंक्ति उन्होंने उद्धृत की है। यथा :

सुती पंथी स्थिर होई जैसे तुम्ही जाई।
सो परो मोरो वैरी आणता काई।

पवण पुरी हो मतिस्थिर करो हो चन्द्रा मेली वा भाग अवागमन ई जे कोरा बुद्धि राखो अपने य।[2]

इस उदाहरण को उपस्थित करते हुए उन्होंने इसे चन्दकालीन हिन्दी का नमूना कहा है। इसके अतिरिक्त भालेरावजी ने अनेक प्राचीन गद्य-खण्डों का उदाहरण दिया है किन्तु उनके उदाहरणों के पूर्व ब्रजभाषा गद्य का रूप स्थिर हो चुका था और उसमें गद्य रचनाएँ सुचारुरूप से होने लगी थीं।

---

१. उक्त ग्रन्थ की रचना ११८४ वि० में हुई थी।

२. इसका रचना काल शाके ११९४ है। ना० प्र० पत्रिका, भाग १०, सन् १९८६।

राजस्थानी गद्य की परम्परा

हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास में राजस्थानी गद्य-साहित्य के महत्त्व का उचित आकलन अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं वरन् स्वतः राजस्थानी गद्य की परम्परा के क्रमिक विकास की रूपरेखा भी अभी तक प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। राजस्थानी के प्राचीनतम रूप का दर्शन 'रणमल्ल छन्द कन्हड़दे प्रबन्ध' 'भरत बहुविलास' तथा 'वंश भास्कर' (सूर्यमल्ल लिखित) में पर्याप्त रूप से किया जा सकता है। राजस्थानी और गुजराती अपने शैशवकाल में एक ही भाषा थीं, जिसे एल. टेसीटरी ने पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है।[१] चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी तक दोनों का रूप बिल्कुल एक-सा था। प्रादेशिक भेद का होना दूसरी बात है। 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में प्रकाशित उदाहरण और 'रणमल्ल छन्द' आदि १४ वीं १५ वीं सदी के ग्रन्थों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुतः प्राचीनतम नमूनों की अभी पूरी खोज ही नहीं हुई है। ताम्रपत्रों, शिलालेखों और प्राचीन बहीखातों में राजस्थानी गद्य के नमूने दबे पड़े हैं। सं० २५३२ के ऐसे ही एक ताम्रपत्र की भाषा देखिये।[२]

> 'धरती बीघा तीन सै सुर प्रव में उदक आधार
> श्रीरामार अर्पण कर दे वाणी ओ सशी जमी रो हांसल
> भोग डंड पराड लागत वलगत कुडा नवाण रूख वरख
> आबां महुडा मेर की खण्डम सरब्र सुदी धारा बेटा
> पोता सपुत कपुत खाया पाया जायेला।'

किन्तु इससे भी प्राचीन नमूने 'गुजराती गद्य सन्दर्भ' में देखे जा सकते हैं। यह श्री जिनविजय जी द्वारा सम्पादित है[३]। इसमें प्राचीनतम गद्य के दो नमूने मिलेंगे। एक तो संग्रामसिंह जी की गुजराती बाल शिक्षा, दूसरे ताड़पत्र की लिपि जो सं० १३३० में लिपिबद्ध की गई थी। अतः इस ताड़पत्र वाली

---

1. Notes on the Grammer of old Western Rajasthani—Indian Antiquary 1914–16, Introduction—L. P. Tessitory.
२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पं० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ संख्या २७३।
३. गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद में प्राप्य है, उल्लिखित श्री पतराम गौड़ के व्यक्तिगत पत्र द्वारा।

प्रति को उपलब्ध सामग्री से प्राचीन माना जा सकता है। प्रस्तुत उद्धरण आराधना का है। इसके दो नमूने नीचे दिए जा रहे हैं।

'पुंढविकाई जीव आउकाई जीव तेउकाइ जीव वाउकाइ जीव वणस्वइ-काइ जीव वेइप्रिय त्रेप्रिय चउरि प्रिय जलचर थलचर खेचर जिवजंतुताह भिच्छामि हुवइडं।' (आराधना १३३०)[१]

आराधना का ही दूसरा नमूना पंडित मोतीलाल मेनारिया ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में दिया है, उसकी भाषा इस प्रकार है[२]—

'ज्ञानाचारि पुस्तक पुस्तिका संपुट संपुटिका टीपणां कवली उतरी ठवणी पाठा दारी प्रभृति ज्ञानोपकरण अवज्ञा अकालि पठन अतिचार विपरीत कथनु उत्सूत्र प्ररूपणु अश्रद्धान प्रमृतिकु आलोयदु। दर्शनाचारि देव द्रव्यु भक्षिदुउपाक्षितु प्रज्ञाहीनत्वु जिनभुवन आसातना आधीयति देवपूजा गुरूद्रव्य ग्रहणु गुरू-निन्दा द्रव्यालिगं एसउं संसर्गु बिंब आशातना शंका आकांक्षा विचिकित्सा मिथ्या-दृष्टि प्रसंसा मिथ्यादृष्टि परिचउए पंच अत्रिचार आलावउ।'

इसके अतिरिक्त कुछ पट्टे, परवाने स्वर्गीय मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाये थे। जिसके विषय में उनका दावा है कि वे पृथ्वीराज चौहान तथा समरसिंह के दरबारों के समय के थे। किन्तु रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उसे पूर्णतया जाली समझते थे, क्योंकि उसकी भाषा और लिपि अर्वाचीन थी।[३]

यद्यपि रासो को प्रामाणिक[४] तथा अप्रामाणिक[५] माननेवालों की संख्या में कोई कमी नहीं, लोगों ने अपने-अपने पक्ष के तर्कों को उपस्थित किया, किन्तु इस बात की सम्भावना सभी के मन में रही कि रासो के कुछ अंश अवश्य प्रक्षिप्त हैं। यद्यपि गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्रभृति विद्वान् तो रासो को सोलहवीं सदीं का जाल मानते हैं किन्तु प्रसिद्ध पुरातत्व शास्त्री श्री जिनविजय जी ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' से चन्दबरदाई के चार छप्पयों को खोज निकाला है,

---

१. श्री पतराम गौड़ प्राध्यापक पिलानी कालेज के व्यक्तिगत पत्र द्वारा।
२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २७३, पं० मोतीलाल मेनारिया।
३. हिन्दी गद्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ३ नरोत्तमदास स्वामी।
४. डा० श्यामसुन्दरदास, पंड्या मोहनलाल विष्णुलाल, हरिप्रसाद शास्त्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, टेसिटरी आदि आदि।
५. मुरारीदास श्यामलदास, बूलर, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा ग्रियर्सन आदि।

जो पृथ्वीराज रासो में भी प्राप्त हैं। अतः चन्द तथा रासो की प्रामाणिकता का झगड़ा कुछ दूर तक समाप्तप्रायः ही समझना चाहिए। किन्तु कालान्तर में होनेवाले प्रक्षेपों के कारण भाषा के भी अनेक रूप पाये जाने लगे और विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट करने प्रारम्भ किये। ग्रियर्सन ने 'रासो' की भाषा को पश्चिमी हिन्दी माना है न कि राजस्थानी।[१] स्वयं 'चन्द' ने उसे षडभाषा[२] कहकर सम्बोधित किया है। प्राचीन 'पृथ्वीराज रासो' अपभ्रंश में था इसे डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी स्वीकार करते हैं। एफ. ई. का कथन है कि—

"राजपुताना के पुराने चारणों ने संक्रान्ति काल में प्राकृत से पूर्ण एक प्रकार की भाषा का प्रयोग लिखने के लिए किया, यह हिन्दी भाषा के संक्रान्ति का समय था।[३]

शुक्ल जी का मत तो बिल्कुल बेठिकाने है, उसमें उन्हें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं, ऐसी भाषा लगी[४] कुछ लोग इसे न तो डिंगल अथवा प्राचीन साहित्यिक मारवाड़ी, न अपभ्रंश मानकर, सोलहवीं शताब्दी में प्रयुक्त होनेवाली ब्रजभाषा मानते हैं।[५] डॉक्टर विमलकुमार जैन एम० ए०, पी-एच्० डी० ने तो 'वट ? (षड)—भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' को समझाते हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देशभाषा, अरबी, फारसी, राजस्थानी, और डिंगल आदि उन सभी भाषाओं का नाम गिना दिया है जितनी भाषाएँ उनके दिमाग में उस समय आयीं।

जो कुछ भी हो, पर जिनविजय जी द्वारा उद्धृत छप्पयों को ही प्रामाणिक भाषा मान लें तो रासो की भाषा भी अवहट्ट ही ज्ञात होगी। प्राचीन राजस्थानी तथा अपभ्रंश का मिश्रण उसमें हुआ है। परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) अपभ्रंश का प्रयोग न होने के कारण अनेक प्रान्तीय तथा देशज शब्दों का उसमें समावेश हो गया है। कीर्तिलता के उपर विचार करते समय हम पहले ही कह आए हैं कि (रासो) की बचनिका गद्य ही है, तथा पूर्ववर्ती (लीलावइ कहा) ओर परवर्ती 'कीर्तिलता' की ही परम्परा में 'रासो' का होना असम्भव नहीं लगता।

---

१. 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया', वाल्यूम ९, भाग २, पृष्ठ ४।
२. षडभाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया—रासो।
३. 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर' पृष्ठ १०।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४४, रामचन्द्र शुक्ल।
५. गाउजे—जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १८७३।

टेसीटरी ने बचनिका की पहचान बतलाई है—गद्य की तुकात्मकता,[1] जिसे वामन द्वारा बताए गए वृत्तिगन्धि की कोटि में रखा जा सकता है।[2] यों तो बचनिका में कोई नियम अथवा बन्धन नहीं होता किन्तु पद और वाक्य के छोटे अथवा बड़े होने से कोई मतलब नहीं। उनका दूसरे पद और वाक्य के तुक में आना नितान्त आवश्यक है। जैसे :

'दिल्ली रा वाका उजेणे रा साका च्यारियुग-
रहिसी कवि बात कहिसी' है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने भी लिखा है कि गद्य में बचनिका शैली बड़ी निराली है, वास्तव में यह पद्यानुकारी गद्य है।"[3] उन्होंने राजस्थानी के सुप्रसिद्ध छन्द-ग्रन्थ 'रघुनाथ-रूपक' के आधार पर गद्य के दो भेदों का नाम लिया है।

दवावैत और बचनिका। इन दोनों के भी दो-दो भेद किए गए हैं—दवावैत के शुद्धबन्ध और गदबन्ध। बचनिका के पदबन्ध और गदबन्ध।[4] रासो की बचनिकाओं में अधिकतर पदबन्ध के ही उदाहरण पाए जाते हैं। कुछ नमूने देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।[3] यथा—

'बचनिका : जमा सुविहानं। शाहबदीन सुल्तानं। पैगम्बर परवर दिगार। इलाह करीम कवार। सुलतानं जलाल सिकन्दर जाया। सुलतान साहबदीन अलह उपाया। मुसलमान मद्दति। दीन भीम दद्दति। इतनी कहन लागे। पातसाह साहब दीन आगे। अपर पराए टरे। सैतान पखरे। सामन्त मन जरे। चावंड राइ जी पैरीयो भरै। कूरम कुल संकाडा। परिगह पास छोड़ा। पाभार परिगनाई। हाहुलि परिहाय जनाई। राउ जैतसी पास मेहरा छुट्टा। पुंडीरी लाहीर लुट्टा। राउ भौहा दुनियाँ मुक्की। राउ माल दे मौत चुकी। देवराव दीवन छंड्या। जादवो वैर भंड्या। बलक आलम आलोई। जीवतै जहुआन बोई। दसोही दिसा जीती। कनवज्जै कहर बीती। हजरत षुदाइ बैल असि

---

१. 'Rhymed Prose' VI Vachanika Rathor Ratna Singh jiri Mahesdasot ri Khiriya Jaga ri Kahi—L. P. Tessitory Pt. 1, Introduction.

२. हिन्दी विश्वकोष, भाग ६, पृष्ठ १७३ "वृत्तगंधि वह है जिसमें कहीं-कहीं पद्य-सा आभास हो।"

३. सरस्वती मासिक; भाग ५०, खण्ड २; अगस्त १९४९; पृष्ठ ४६८, 'राजस्थानीय भाषा और साहित्य-नास्य'।

४. राजस्थानी गद्य-काव्य की परम्परा : कल्पना मार्च १९५३।

मरदान मैल ॥ बरन बरन वैरी । बद्लो पंथि नैरी । आसाहि साहाब साहि । दिजिए मादर उपाय ।"[१]

दूसरा उदाहरण लीजिए—

वचनिका—"दूजा पहलू बह्या
बिभ्रम दूज आय परा रहा ।
सलाम लह्या दिल्ली का चरित कह्या तै कहा चरित"[२]

बचनिकाओं की इस तुकात्मकता का कारण मुसलमानों के आक्रमण से उद्भूत तथा उनकी फारसी की अनुप्रासात्मक गद्य शैली का प्रभाव नहीं, वरन् यह प्राकृत की कथा और आख्यायिकाओं में प्रयुक्त होने वाली गद्य शैली का परवर्ती विकसित रूप है। यह पूर्णतया भारतीय है। दूसरी बात यह कि परम्परागत् शैली में ही होने के कारण उसे 'कीर्तिलता' का पूर्ववर्ती काव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अपनी इस शैलीगत् विशेषता के कारण ये बचनिकाएँ इतनी अधिक लोकप्रिय हुईं कि उनके आधार पर इनसे मिलती-जुलती अनेक बचनिकाओं का निर्माण हुआ। ये राजस्थान में इतनी अधिक प्रसिद्ध हैं कि शायद ही कोई ऐसा चारण हो जिसके पास किसी बचनिका की एक प्रति न निकल आये। अतः बचनिकाओं का साहित्य इतना अधिक है और ये इतने अधिक काल तक लिखी जाती रहीं कि उन सबको प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर भी आज जो बचनिकाओं का साहित्य हमारे सम्मुख है, उन सबको प्राप्त करने का श्रेय विदेशी किन्तु सहृदय तथा उदारमना टेसीटरी को ही दिया जा सकता है। इन बचनिकाओं में भी दो बचनिकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

१. अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही, तथा

२. वचनिका राठौर रतनसिंह जी री महेसदसौत री खिरिया जगा री कही।

अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही

शिवदास नाम के चारण ने यह वचनिका गांगुराना के प्रधान शासक अचलदास भांजउत के विषय में कही है। उसका निर्माण काल सं १४७० के आस-पास है। इसमें मांडू मालवा के पातसाह अचलदास के युद्ध का वर्णन है। अपने आश्रयदाता के शौर्य-वर्णन में कवि ने कहीं-कहीं अत्युक्ति से काम लिया है और बहुत-सी ऐसी बातें लिख डाली हैं जो इतिहास के

---

१. नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित रासो को ही आधार मानकर उद्धरणों पर विचार किया जा रहा है।

२. ६६ वाँ समय, पृ० सं० २१२६–२७, पृथ्वीराज रासो, सभा संस्करण।

साथ मेल नहीं खातीं। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इसे महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। परन्तु भाषा और काव्यत्व की दृष्टि से यह बहुत सुन्दर और चमत्कारपूर्ण बन पड़ी है। पर जहाँ तक ऐतिहासिक सत्यासत्य का प्रश्न है, श्री एल. पी. टेसीटरी को उद्धृत कर देना हम पर्याप्त समझते हैं :

'काव्यात्मक अतिशयोक्तियों तथा काल्पनिकता ने विवरण की सत्यता को अत्यधिक विकृत कर दिया है।'[1]

जहाँ तक इसकी भाषा के नमूने का प्रश्न है निम्नलिखित उद्धरण पर्याप्त होगा।[2]

'इसी नही ही ठाकुरे। इसी कीजै। गले सत का आबासां सौ लोहडो करती जाइजै। जितरा जितरा दग दीजे तितरा अश्वमेध ज्यांग का फल लीजै। इणिर बिधि जे जीवनिवेदी जे ते सूरिज मंडल भेदी जै। तितहै वात कहता वार लाजै। अस्त्री जठा सहस चालिस को संघार आइ संप्रायति दुवी छै। किसी एक बाली भोली अबला प्रौढा लोडस बटस की राणी राउताँणी आय आपका देवरं जेठ भरतार को पुरुषारथ देखती फिरे छै।''

शिवदास सं० १४८५ :

बचनिका राठौर रतनसिंह जी री महेसदसौत री खिरिया जगा री कही[3]

प्रस्तुत बचनिका में महाराज रतनसिंह की उस कीर्ति का वर्णन है जब उन्होंने अपने स्वामी महाराज यशवंतसिंह के लिए औरंगजेब तथा मुरादबख्स से लड़ते-लड़ते वीरतापूर्वक प्राणों को निछावर कर दिया था। इसके निर्माण काल के विषय में स्वयम् कवि कहता है :

'परव वैसाखह तिथि नवमि
पनरोत्तरे बरस्सि

---

१. "करेक्ट्नेस आफ़ द एकाउण्ट इज़ मच् डिस्टारटेड् बाई पोएटिकल एग्ज़ेगरेशन एण्ड फिक्शन।" ए डिस्क्रप्टिव कैटेलॉग आव बार्डिक एण्ड हिस्टॉरिकल मैन्स्क्रप्ट्स, सेक्सन I पार्ट II, एल० पी० टेसीटरी, पेज ४१।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २७३ पं० मोतीलाल मैनारिया द्वारा उद्धृत।

३. 'बार्डिक एण्ड हिस्टारिकल सर्वे आफ़ राजपूताना,' भाग प्रथम, एल. पी. टेसीटरी।

वारि सुकर लडिया विहद
हिन्दू तुरुक वहस्सि।"[१]

अर्थात् संवत् १७१५ बैसाख मास नवमी कृष्ण पक्ष तथा शुक्रवार का दिन। प्रस्तुत बचनिका की भाषा डिंगल है।[२] किन्तु उसका रूप बोलचाल की मारवाड़ी से भिन्न है। दूसरे शब्दों में इसकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी और आधुनिक मारवाड़ी है। यथा—[३]

'बासठि हजार फौजां रा भाजणहार। छः खण्ड खुरसाण रा विधूंसणहार मैमन्त हाथियाँ रा मारणहार। पतिसाहा रा विभाहणहार। पतिसाहा रा पडिगाहरण। गजराजा राजान के गजवान। अरिसाल। बिजाइमाल। लखदीअण जलसीअण। राजान कै राजा। तयै महाराज रयण। तिणित्रैला कपूर बीडा भाई उम्बरावां कब्रीसुरां कूं दिआ। दिवाणी किआ। समारूप कैसा। ऐसा छमोसु वंस वणउ करि बैठा राजैसुर। साहित्र खान भगवान अमर बोलिआ बहादुर। बारठ जसराज जैसा कवेसर तिजारा की बाडी फूल कगर। जल कमल हंस का वणउ। जाणौ मानसरोवर सौरम्भ की लहरि आवै। जवाधि

१. वार्डिक एण्ड हिस्टारिकल सर्वे आफ राजपुताना, भाग प्रथम, बचनिका राठौर रतनसिंह जी री महेसदासौत री खिरिया जगा री कही, एल० पी० टेसीटरी।

२. डिंगल की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है, कुछ नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) टेसीटरी—'ब्रजभाषा से स्वतंत्र और गवारों की भाषा होने के कारण डिंगल कहलाई।'... 'जनरल आफ़ दी एसियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल', वाल्यूम १०, नं० १०, पृष्ठ ३७६।

(ख) हरप्रसाद शास्त्री 'आरम्भ में इसका नाम डिंगल था पर पिंगल के तुक पर डिंगल हो गया।' 'प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आन दी आपरेशन इन सर्च आफ़ मैन्स्क्रुप्ट्स आफ़ वार्डिक क्रानिकल्स,' पृष्ठ, १५।

(ग) पुरुषोत्तम स्वामी—'डिम गल' से।

(घ) गजराज ओझा—'ड वर्ण के प्रयोगाधिक्य' से॥

(ङ) मैनारिया—'जो भाषा डींग हाँकने के काम में लाई जावे यही प्रमाणिक माना जा सकता है।'

३. 'वार्डिक एण्ड हिस्टॉरिकल सर्वे आफ राजपुताना,' भाग १, ब्रचनिका महेशदसौत री खिरिया जगा री कही, पृष्ठ सं० २२, बचनिका संख्या ८२, एल० पी० टेसीटरी।

जलदर गूणी जण गाया। रंग-राग सुखाया। राजा महेसदास का जाया। इन्द्र सा निजरि आया। ८२।'

ये दो अत्यन्त प्रमुख बचनिकाएँ हैं। इन्हें गद्यबन्ध प्रकार की बचनिका कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त बहुत काल बाद तक बचनिकाओं का निर्माण होता रहा।

इन बचनिकाओं के उपरान्त प्राचीन राजस्थानी गद्य के उदाहरण हम जैन तथा अन्य लेखकों के लिखे हुए ग्रन्थों में प्राप्त कर सकते हैं। अगरचन्द नाहटा जी ने सर्वप्रथम राजस्थानी गद्य का काव्य 'पृथ्वीचन्द-चरित' माना है, जिसका अपर नाम 'वाग्विलास' है। इसकी रचना संवत् १४७८ में जैनाचार्य माणक्य सुन्दर सूरि ने की है। इसमें मरहट्ट देश का वर्णन देखिए—

'जिण देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम। भलां नगर जिहां न भागी यहं कर। दुर्ग जिस्यां हुई स्वर्ग। धान्य न नीयजर सामान्य आगर सोना रूपातणा सागर। जेह देस माहि नदी बढ़इं सुवहं निर्बहइ' आदि-आदि[1]।

इस ग्रन्थ के तीन वर्ष बाद सं० १४८५ में हीरानन्द सूरि रचित 'वस्तुपाल तेजपाल रास' में भी गद्य की प्राप्ति होती है, जिसकी भाषा का नमूना यह है[2]:

'इसउ श्री शतुञ्जय तणउ विचारू महिमानउ
भण्डारू मंत्रीश्वर मनमाहि वाणी उत्सरंग आणी।
यात्रा उपरि उद्यम कीधउ पुन्य प्रसाद तनउ मनोरथ सिधउ। ६।'

इसके अतिरिक्त ख्यात तथा बात की परम्परा भी राजस्थानी गद्य की प्राप्ति के विषय में सहायिका हो सकती है।

ख्यात

प्राचीन राजपूताने में राजाओं द्वारा अपनी कीर्ति लिखाने की प्रथा थी। ख्याति की इस लिखित सामग्री के संकलन को ख्यात कहा जाता है। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी पूर्व से इनकी परम्परा चलती है। किन्तु इनके नाम प्रायः वही के आधार पर होने से ठीक नहीं लिखे गये हैं। इसका कारण या तो ब्रह्मभट्टो की असली बहियों का नष्ट होना या बिल्कुल नहीं होना या बाद में लिखा जाना प्रतीत होता है[3]

---

१. कल्पना मासिक, मार्च १९५२ में प्रकाशित, नाहटा जी के लेख 'राजस्थानी गद्य-काव्य की परम्परा' से।

२. कल्पना मासिक, मार्च १९५२, 'राजस्थानी गद्य की परम्परा', श्री अगरचन्द नाहटा के लेख से।

३. भूमिका, 'राजपुताने का इतिहास', भाग १, पृष्ठ २५, जगदीशनरायन सिंह।

अतः कितने ही जाली काम उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए उन ख्यातों में कर दिए गये हैं; जैसे : प्रसिद्ध वीरों के साथ मनगढन्त संवत् लगाकर वंशावलियों को पूरा करना। इसी तरह अनेक गलत काम बाद में धड़ल्ले से किये जाने लगे। इन ख्यातों की संख्या भी कम नहीं है। यथा—'सिसोदिया री ख्यात', 'राठौड़ाँ री ख्यात', 'कछवाहा री ख्यात', 'मुहणोत नैणसी री ख्यात', 'बीकानेर री ख्यात', 'डेवलिए री धणियाँ री ख्यात', 'चहुवाण सोनगराँ री ख्यात', 'जाड़ेचाँ री ख्यात', आदि-आदि।[१]

कहने का तात्पर्य यह कि जितने वंश थे, सिसोदिया, राठौर, चौहान, कछवा, आदि सभी ने अपने-अपने यश की कथा इन ख्यातों द्वारा सुरक्षित करवाई थी। अतः इनका साहित्यिक महत्व हो या न हो, पर इनकी ऐतिहासिक महत्ता को कौन अस्वीकार कर सकता है? इन ख्यातों में सबसे प्रसिद्ध 'मुहणोत की ख्यात' है।

मुहणोत नेणसी की ख्यात

यह सर्व प्रथम तथा सर्व प्रसिद्ध ख्यात है। २७५ पूर्व विक्रम संवत् १७२२ बं० सन् १६६५ में इसकी रचना हुई। यों तो पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व के ख्यातों में अनेक अतिशयोक्तियाँ हैं। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के बाद से इन ख्यातों की वंशावली सही मिलती है। इसका प्रारम्भ वास्तविक रूप से 'आइने अकबरी' के काल से ही हो जाता है। क्योंकि जब अबुलफजल ने 'आइने-अकबरी' की रचना की, तो अन्य राजाओं से भी उनका इतिहास पूछा गया और तब राजाओं ने अपने-अपने राज्यों की ख्यातें लिखवानी प्रारम्भ कीं। इस शैली से मुहणोत नेणसी ने भी जो जोधपुर का दीवान था, राजपूताना के राजाओं की वंशावलियाँ लिखी हैं। कर्नल टाड को यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो गया होता तो उनका 'एनल्स ऑफ राजस्थान' कई अंशों में अधूरा न रह पाता। इन ख्यातों की भाषा के नमूने के रूप में 'मुहणोत नेणसी की ख्यात' की एक बानगी देखिए—[१]

'अलावदीन जालेए ऊपर आयो। सोनगरा सूँ लड़ाई हुई। कांधल खीड़ा रे मुहडे हुतो सु लडता सात चीरा खाडा खूटा कटारी पकड कर काम आयो। अर मां बध्यो बेटा कांधल जोइम जाह्रू तो खाडा सू घट भटाऊ।"

राजस्थान के गद्य-साहित्य की उपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बात भी है। राजस्थानी में कहानी को बात कहते हैं। संवत् १६८० के आस-पास

१. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृष्ठ ४९, श्री मैनारिया जी।

जटमल नाम का एक कवि हुआ था। इसने 'गोरा-बादल की बात' नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ बनाया, जिसकी कई प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। जिनमें से एक प्रति में पद्य के साथ-साथ गद्य भी दिया है। इन बातों के विषय विभिन्न तथा अनेक होते हैं। इतिहास, पुराण, नीति तथा धर्म-सम्बन्धी अनेक विषयों में बात-साहित्य का विस्तृत निर्माण हुआ है। कुछ-कुछ बातें तो साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से बहुत मार्मिक तथा सुन्दर बन पड़ी हैं। सबसे अधिक बातों का साहित्य कविराजा बाँकीदास की देन है। इनकी लिखी बातों की संख्या लगभग २८०० है। ये सब अभी तक प्रायः अमुद्रित हैं।[१]

कवि राजा बाँकीदास के विषय में एक प्रसिद्ध कथा कहने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। ये अपनी कवित्व शक्ति, विद्वत्ता तथा संस्कृत, डिंगल, फारसी और व्रजभाषा के ज्ञान के लिए ख्यात थे। इन्हें इतिहास की अपूर्व परख और उसका अद्भुत ज्ञान था। एक बार ईरान से कोई सरदार भारतवर्ष में भ्रमण करता हुआ जोधपुर आया और महाराज से उसने किसी इतिहासवेत्ता की माँग की। महाराज ने बाँकीदास को उसके पास भेजा। वह सरदार उनकी स्मरणशक्ति तथा काव्य चमत्कार को देखकर दंग रह गया और जिस समय वह जोधपुर से रवाना होने लगा तो महाराज से कहता गया कि जिस आदमी को आपने मेरे पास भेजा था वह इतिहास का पूर्ण ज्ञाता ही नहीं वरन् उच्चकोटि का कवि भी है। इतिहास का ऐसा पूर्ण और पुख्ता ज्ञान रखने वाला कोई दूसरा व्यक्ति मेरे देखने में अभी तक नहीं आया। इसे समस्त भूमंडल का भारी ज्ञान है। मैं ईरान का रहने वाला हूँ, पर ईरान का इतिहास भी वह मुझसे अधिक जानता है।

बातों के विशाल सागर में जो कुछ आबदार मोती हैं उनका उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। 'राणा उदैसिंह री बात,' 'हाडे सूरजमल री बात,' 'राणा कथा चितभर भिचा री बात,' 'राव बी फोजी री बात,' 'बाबू जी री बात,' 'राव लूणाकरण री बात,' 'जैसलमेर री बात,' 'सोढा री बात' इत्यादि।[२] इन बातों का साहित्य कहानियों का साहित्य है। इनकी भाषा डिंगल होती है।

राजस्थानी गद्य के नमूने बात, 'ख्यात, बचनिकाओं में ही नहीं दानपत्रों, पट्टों, परवानों, जैनग्रन्थों, राजनीति, इतिहास, काव्य-शास्त्र, गणित, तथा ज्योतिष

१. 'डिंगल में वीररस', पृष्ठ संख्या ४३, श्री मैनारिया द्वारा उद्धृत।
२. 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा,' पृष्ठ १८०, श्री मैनारिया।
३. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य,' मैनारिया, पृष्ठ ४९।

आदि भिन्न-भिन्न विषय-सम्बन्धी ग्रन्थों में[१] प्राप्य हैं। विगत पीढ़ी तथा वंशावलियों में भी इनका रूप परिलक्षित किया जा सकता है। जैसे 'मेवाड रामाखश री विगत,' 'सिसोदिया चूडावती री साहब री विगत', 'कछवाहा सेखावतां री विगत,' 'जोधपुर बीकानेर टीकायतां री विगत,' 'ईडर रा धरणी राठौडा री पीढ़ियाँ' 'राठौडा री खांचा री पीढियाँ,' 'भायल री पीढियाँ,' 'चन्द्रावती री पीढियाँ,' तथा 'राठौडा री वंसावली', 'झाला री वंसावली', 'बीकानेर रे राठौड राजवां री वंसावली,' 'उदैपुर रा राजवां री वंसावली' आदि[२]।

प्राचीन राजस्थानी गद्य का इतना विस्तृत क्षेत्र है कि उसकी हस्त-लिखित सामग्रियाँ जैसलमेर के ग्रन्थागार, उदयपुर के सरस्वती मन्दिर, पिलानी के बिरला केन्द्रीय पुस्तकालय, जयपुर के पुरातत्व विभाग में भरी पड़ी मिलेंगी। जिनका अलग से ही भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली पर अध्ययन अपेक्षित है। प्राचीन गद्य-साहित्य प्राकृत, अपभ्रंश अवहट्ट तथा ब्रजभाषा आदि के गद्य-साहित्य से भी इसका साहित्य विशाल है और विस्मृति के गर्भ में पड़ा है। किन्तु नाहटा, पतराम गौड़, मैनारिया प्रभृति विद्वान उसके शोध कार्य में लगे हैं जिनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

राजस्थानी गद्य की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है। उसे संस्कृत की अलंकृत शैली, चम्पू शैली और प्राकृत तथा अपभ्रंश की समास-युक्त शैली की विरासत मिली है। इन दोनों का पूर्ण उत्कर्ष राजस्थानी की वचनिका शैली के 'पदबन्ध' तथा 'गदबन्ध' रूप में प्राप्त होता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि प्राकृत, अपभ्रंश में पद्यों के बीच गद्य लिखने की प्रवृत्ति रही है। अतः राजस्थानी की पदबन्ध वचनिका शैली उसी का विकसित रूप है और चम्पू शैली का विकास गदबन्ध वचनिकाओं में हुआ है, ऐसा अनुमान किया जाए तो कुछ अनुपयुक्त नहीं होगा।

सोलहवीं शताब्दी में एक विशिष्ट वर्णनात्मक अपूर्ण ग्रन्थ जैसलमेर के जैन भण्डार से प्राप्त हुआ है। उसका नाम हासिए में 'मुत्कलानुप्रास' लिखा हुआ है। यह ग्रन्थ वर्णनों का सुन्दर संग्रह है। सम्भव है इसकी रचना १५वीं के अन्त या १६वीं के प्रारम्भ में हुई हो। मेरा पूरा विश्वास है कि ग्रन्थकार के

---

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य,' पृष्ठ २८, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम. ए., डी. फिल., डी. लिट्।

२. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृष्ठ ४९, मैनारिया जी।

सम्मुख ग्रन्थ लिखते समय 'ज्योतिरीश्वर' के 'वर्ण-रत्नाकर' का ध्यान अवश्य रहा होगा।

"मुगल दरबार में 'किस्सा-गोई' नाम की एक विशेष प्रकार की कला का जन्म हो चुका था। मुगल काल के अन्तिम दिनों में तो 'किस्सा-गोई' या 'दास्तान-गोई' एक पेशे का रूप धारण कर चुकी थी। किस्सा-गो लोग अवकाश के क्षणों में बादशाहों, नवाबों और अन्य रईसों का मनोरंजन किया करते थे। इन कहानियों का प्रधान विषय प्रेम हुआ करता था और अतिरंजित एवं आकस्मिक घटनाओं से वर्ण्य विषय को आकर्षक बनाने की चेष्टा भी होती थी। राजपूत दरबारों में भी इनका थोड़ा-बहुत अनुकरण होने लगा, इसी कारण राजस्थानी भाषा में भी किस्सा-गोई का साहित्य बनता रहा। परन्तु जिस प्रकार राजपूत कला मुगल कला से प्रभावित होकर भी भीतर से सम्पूर्ण रूप से भारतीय बनी रही उसी प्रकार यह आख्यान-साहित्य भी सम्पूर्ण रूप से भारतीय ही बना रहा[१]।"

किस्सा-गोई का यह साहित्य आख्यायिका से प्रभावित है इसका संकेत डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आख्यान-साहित्य कह कर देना चाहा है। जो वास्तव में ठीक है भी। क्योंकि 'दन्डी के अनुसार 'कथा' और 'आख्यायिका' में कोई भेद नहीं है वरन् उन दोनों को उन्होंने एक ही प्रकार की रचना माना है। अतः किस्सा-गो, आख्यायिका के कहने वाले और किस्सा और कुछ नहीं आख्यायिका की ही विकृत परम्परा है। ऐसे किस्सा सुनने वाले राजाओं की अनेक लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। अधिकांश लोगों ने उस राजा की कहानी सुनी होगी जो कभी न खतम होने वाली कहानी सुनना चाहता था। आखिर एक ने ऐसी कहानी सुनाई जिसमें 'फिर' का उत्तर 'फुर्र' ही चलता रहा। यह कहानी उसी किस्सा-गो की परम्परा की ओर सूचित करती है जो भारतीय होकर भी मुगलानी रूप धारण कर चुकी थी। राजस्थानी में उसी का पुनरुद्धार बात साहित्य के रूप में हुआ। राजस्थानी में बात को कहानी कहते हैं।

प्राचीन परम्परा की सुरक्षा करते हुए भी राजस्थानी गद्य की अपनी अर्जित सम्पत्ति भी कम नहीं है। ख्यात, पीढ़ियाँ, विगत के अतिरिक्त पट्टे, परवाने, तथा टीका, टिप्पणियों में भी राजस्थानी गद्य विकसित होता रहा। राजनीति, इतिहास, काव्य-शास्त्र, गणित, ज्योतिष, आदि भिन्न-भिन्न विषय-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचनाएँ भी आवश्यकतानुसार होती गईं।

---

१. हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, ३६७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी गद्य का सूत्रपात १२ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। राजाश्रय मिलने के कारण राजस्थानी के विकास-क्रम में बाधा नहीं पड़ी। यद्यपि राजनीतिक उलटफेर के कारण इसका बहुत-सा साहित्य नष्ट हो चुका है, किन्तु यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती प्राकृत तथा अपभ्रंश और परवर्ती व्रजभाषा के गद्य-साहित्य की अपेक्षा इसका गद्य-साहित्य कहीं अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली रहा है।

हम देख आए हैं कि इसके प्रारम्भिक गद्य पर संस्कृत की समासयुक्त शैली और अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव है किन्तु जब व्रजभाषा साहित्यिक पद पर आरूढ़ हो गई तो यह त्रुटि उसके भी प्रभाव से वंचित न रह सकी। कालान्तर में तो इस पर व्रजभाषा का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि इसके साहित्यकार व्रजभाषा में ही अपनी रचनाएँ उपस्थित करने लगे।

ध्यान देने की विशेष बात यह है कि इसमें जिस प्रकार स्वतंत्र टीकाएँ तथा अनुवादों के रूप में गद्य का प्रचलन था उसी प्रकार व्रजभाषा में भी इन्हीं तीन रूपों में गद्य का साहित्य प्राप्त होता है। यद्यपि यह निश्चित है कि व्रज-भाषा के व्यापक प्रचार ने राजस्थानी के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था किन्तु इस बात से कदापि इनकार नही लिया जा सकता कि राजस्थानी की प्रचलित गद्य-शैली ने व्रजभाषा गद्य को एक मार्ग और एक ढाँचा प्रदान किया।

इन रूपों के अतिरिक्त राजस्थानी की गद्य-शैलियों ने भी व्रजभाषा की गद्य-शैली को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है क्योंकि व्रजभाषा के पूर्व गद्य की कोई अन्य परम्परा न थी। राजस्थानी की बचनिका-शैली इतनी अधिक लोक-प्रिय हो चुकी थी कि व्रजभाषा काल में तथा उसके अंतिम काल में भी बचनिका जैसी चीजें लिखी जाती रहीं। गिरधरलाल जी तथा गोकुलाधीश आदि के वचनामृत भी इसी बचनिका के रूपांतर लगते हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा राजस्थानी गद्य काव्य की परम्परा[1] नामक लेख में 'कुतुबुद्दीन शाहजादे की बात', नामक एक १७ वीं शताब्दी के राजस्थानी गद्य ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं जिसका प्रारम्भ है...

'कुतुबुद्दीन सहिजादे री वार्ता लिख्यते'

जिससे यह गाँठ सुलझ जाती है कि राजस्थानी के बात साहित्य का ही विकसित रूप व्रजभाषा का वार्ता साहित्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्रजभाषा का वार्ता साहित्य अपने काल को स्वर्ण युग की महत्ता से विभूषित करता है।

१. कल्पना, मासिक पत्रिका, हैदराबाद, दक्षिण।

व्रजभाषा गद्य के आदि लेखक श्री गोरखनाथ जी की भाषा पर राजस्थानी का स्पष्ट प्रभाव है इसे प्रायः सभी लोग एक मत से स्वीकार करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्रजभाषा के गद्य-लेखकों ने भी उन सभी विविध विषयों को उठाया जैसे टीका, अनुवाद, ज्योतिष, गणित, वैद्यक, राजनीति आदि-आदि जिन पर राजस्थानी गद्य-लेखकों की लेखनी चल चुकी थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी की गद्य-परम्परा खड़ी बोली के प्रभाव से, राज्याश्रय-हीनता से, तथा प्रेस, यंत्र, आदि वैज्ञानिक साधनों की असुलभता से एकदम भंग नहीं हो गयी वरन् उसकी भाषा केंचुल की भाँति छूट कर पड़ी रह गई और शैली व्रजभाषा में प्रवेश कर गई। बाद को उस केंचुल पर खड़ी बोली का अधिकार हो गया। ऐसा होना कोई बुरा नहीं हुआ क्योंकि काव्य के क्षेत्र में जिस प्रकार व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का आन्दोलन छिड़ा, उसी प्रकार गद्य के क्षेत्र में भी व्रजभाषा और खड़ी बोली की एक नई प्रतिद्वन्द्विनी राजस्थानी भी हो जाती और यदि कहीं ऐसा होता तो कहा नहीं जा सकता था कि आज की हमारी भाषा का रूप कैसा होता।

हिन्दी गद्य के विकास में ब्रजभाषा का स्थान

प्रायः सभी प्रतिष्ठित हिन्दी के विद्वानों द्वारा गद्य के विकास का क्रम निर्धारित करते ससय प्रमुखता खड़ी बोली को ही दी गई है और ब्रजभाषा सदैव उपेक्षा की दृष्टि से देखी गई है। इसका मुख्य कारण है ब्रजभाषा गद्य के उस यथेष्ट साहित्य से अपरिचित होना जो अनुसन्धान के अभाव में इधर-उधर विखरा और दबा पड़ा है। हमारे साहित्यकारों को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि ब्रजभाषा गद्य में हमारी उन सभी परम्पराओं के सूत्र हैं जिनका लोप खड़ी बोली के गद्य में हो गया है। प्राकृत काल की तुकान्त-शैली, जिसका विकास बचनिकाओं (राजस्थानी-गद्य) में हुआ वही क्रम ब्रजभाषा गद्य तक में चला आया है जो ललितकिशोरी और ललितमोहिनी की श्री स्वामी जी महाराज की बचनिका (१८००) तथा जो थोड़े से परिवर्तन के साथ काका बल्लभ जी के '५२ वचनामृत' (१७०३···१७८०) में स्फुरित हुआ। अपभ्रंश काल की गद्य-पद्यमयी शैली भी बख़्शी समन सिंह (पिंगल-भूषण), महाराज मानसिंह (नाथ-प्रशंसा, ऋतु-वर्णन), बनारसी दास (बनारसी विलास), वैष्णव व्यास (भक्तमाल प्रसंग १८२९) तथा राजा यशवंत सिंह (सिद्धान्त बोध) आदि ब्रजभाषा के स्वतन्त्र लेखकों की कृतियों में अन्य रूप से सुरक्षित रही। राजस्थानी गद्य की परम्परा, जो बात, ख्यात, वचनिकाओं आदि की थी उनका निर्वाह भी वार्ता, इतिहास, बचनिकाओं और बचनामृतों आदि में पूर्णतया होता रहा।

कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि ब्रजभाषा गद्य की 'कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता[1]।' और किसी ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'वार्ताओं के अतिरिक्त और कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता[2]'। बातें कुछ विचित्र-सी हैं। दोनों कथन हिन्दी के सुप्रसिद्ध आचार्यप्रवरों के हैं। पहला तो हिन्दी साहित्य के सर्वमान्य आलोचक पंडित रामचन्द्र शुक्ल का तथा दूसरा डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा का है। किन्तु ये बातें पूर्णतया ठीक और न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती हैं। सम्भव है आचार्य शुक्ल जी अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उन ग्रन्थों को छोड़ गए हों जो

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४०६।

२. हिन्दी की गद्य शैली का विकास—पृष्ठ ११-१२।

प्रकाशित नहीं थे या खोज में पाये गये ग्रन्थों को देखने का अवकाश न मिला हो। इसलिए उन्होंने एक ऐसी ही सम्मति दे दी जो उनके प्रभाव द्वारा सर्वमान्य-सी हो गई। जिसका उदाहरण है शर्मा जी का वक्तव्य। जहाँ तक उनके वक्तव्य का प्रश्न है वह जल्दीबाजी का लगता है क्योंकि ब्रजभाषा में न केवल स्वतन्त्र लेखकों की ही सामग्री पाई जाती है वरन् काल और देश का ध्यान रखते हुए टीकाएँ और अनूदित वस्तुएँ भी कम नहीं पाई जाती हैं। इस प्राप्त सामग्री के विषय भी विविध और विस्तीर्ण हैं। धार्मिक वार्ताएँ, इतिहास, पुराणों के अनुवाद, रीति ग्रन्थों, तथा संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ, ज्योतिष, छन्द, समीक्षा, अलंकार, वैद्यक, कथाएँ, और नाटक आदि भी हैं। जिनका वर्णन क्रम से कालानुसार अगले पृष्ठों में किया जायगा। इन सबके उल्लेख का तात्पर्य केवल ब्रजभाषा गद्य का विस्तार और उसकी विविध विषयता का संक्षिप्त परिचय देना मात्र है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य पर्याप्त समृद्ध था और गद्य की चली आती हुई परम्परा का उसमें अविच्छिन्न विकास है। हम आगे चल कर यह देखेंगे कि खड़ी बोली गद्य का राजमहल ब्रजभाषा की भूमि पर ही खड़ा हुआ है। यह कहना कि ब्रजभाषा में गद्य का सर्वथा अभाव है या इतनी संक्षिप्त सामग्री है कि उसकी अपेक्षा उचित नहीं, अनुचित धारणा है। न तो कहीं कालक्रम में इसका लोप हुआ, न इसका साहित्य ही कम है, वरन् अभाव है तो अनुसन्धान और अध्ययन का।

इतना तो निश्चित है कि ब्रजभाषा का प्रभाव उस समय समस्त उत्तरापथ तो क्या दक्षिण और पूर्व की ओर भी व्यापक रूप से था। दक्षिण के हिन्दी कवियों ने इस भाषा में रचनाएँ कीं और पूर्व की ब्रजबुलि तथा कुछ मैथिल प्रयोग भी इसके प्रभाव के नमूने हैं। इसकी व्यापकता का प्रधान कारण भी वही था जो संस्कृत और पाली के लिए था। अर्थात् राज्याश्रय, धर्माश्रय तथा जन-आश्रय जिस प्रकार पाली और संस्कृत के प्रचार में सहायक हुए उसी प्रकार ब्रजभाषा को पुष्पित तथा पल्लवित करने में भी। इस मामले में ब्रजभाषा अपनी पूर्ववर्ती शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से कहीं अधिक सौभाग्यशालिनी रही। इसके राजाश्रय मिलने का कारण था मुसलमानों द्वारा प्रोत्साहन। जब वे स्थायी रूप से यहाँ बसने लगे तो जनता से सम्पर्क बढ़ाने के लिए यह नितान्त आवश्यक हो गया कि उनकी भाषा को सीखें। भाषा ही भावों तक उतरने का सर्व सुलभ माध्यम होती है। इसके अतिरिक्त स्वयम् ब्रजभाषा में इतनी मधुरता थी कि 'खानखाना', 'रसखानि', 'आलम' आदि कवियों का मन

अपने-आप ही इसकी ओर खिंच गया। ताज तो कृष्ण की लीला और ब्रजभाषा की मधुरता पर इतनी मुग्ध हुई कि मुगलानी होते हुए भी हिन्दुवानी होकर रहने की प्रतिज्ञा कर बैठी। दूसरे राज्यशासन तथा कार्य-व्यवहार को सुगमतापूर्वक चलाने के लिए यह जरूरी था कि प्रचलित भाषा को प्रोत्साहन दिया जावे। किन्तु सबसे मुख्य कारण था ब्रजभाषा की वह विशेषता जो श्रृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिए सहज और उपयुक्त थी। अतः राज्याश्रय में जो साहित्य का अंग प्रस्फुरित हुआ वह काव्य का था। कवित्त और सवैयों का प्रयोग विलास का साधन बनकर आया। इससे काव्य में चमत्कारिता तो अवश्य आई किन्तु गद्य का साहित्य राज्याश्रय न पा सकने से कुछ-एक विद्वानों तक ही सीमित रह गया। अकबर के समय में गंग की लेखनी से उद्धृत इस गद्य खण्ड[1] 'इतना सुनके पातसाहजी श्री अकब्बरसाहजी आधा सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।' के उपरान्त दरबारों में गद्य का रूप दिखलाई पड़ना प्रायः कठिन-सा हो गया। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि उस प्रकार के साहित्य का स्वरूप संरक्षित न रह सका हो। क्योंकि कालान्तर में महाराजा मानसिंह, राजा यशवन्तसिंह तथा महाराना विश्वनाथसिंह आदि ने ब्रजभाषा के गद्य के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया था। परन्तु वह ब्रजभाषा की ह्रासोन्मुखी अवस्था का ही प्रयत्न रहा।

धार्मिक सम्प्रदायों ने ब्रजभाषा गद्य के प्रचार में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया था। गोरखनाथ के गोरखसार का उद्धृत गद्यांश ब्रजभाषा का सब से प्राचीन नमूना माना जाता है। उसके बाद इन धार्मिक सम्प्रदायों का नम्बर आता है। धार्मिक सम्प्रदायों में भी उस समय वैष्णव धर्म की शाखा-प्रशाखाओं का ही प्रचार था और उनमें भी कृष्ण-भक्ति शाखा का ही विशेष महत्वपूर्ण स्थान रहा। यह सम्प्रदाय कई उपसम्प्रदायों में बँटा हुआ था जिनकी अलग-अलग गद्दियाँ स्थापित थीं। बिट्ठलनाथ जी की मृत्यु के उपरान्त उनके सातों पुत्रों ने गोकुल, कामवन, काँकरौली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, बम्बई तथा काशी में वल्लभ सम्प्रदाय की भिन्न-भिन्न गद्दियाँ स्थापित कीं। ऐसे ही एक बम्बई के गट्टूलाल जी के मन्दिर में कहा जाता है कि बिट्ठलनाथ जी का लिखा हुआ एक पत्र सुरक्षित रखा गया है। जिसके कुछ भाग में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी है। यह पत्र संवत् १६२० का हो सकता है। संभवतः यह गोरखपंथी साधुओं की रचना के प्रायः २०० वर्ष पूर्व के उपरान्त ब्रजभाषा गद्य का सबसे

१. हिन्दी की गद्य शैली का विकास पृ० १०, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा।

प्राचीन उदाहरण है। इस पत्र का व्रजभाषा सम्बन्धी अंश इस प्रकार है :—

"अपरंच तुमरे समाचार तुमारे पत्र ते पाये। सदा भगवतशरण रति रहिय। ऐहिकै दुख प्राप्त इ भये भगवदीच्छा जानि तादशी निज करि भगवदाधीन अपुन दे इह जानि कै दुख न करनो। स्व प्रभु चरणारविन्द ऐहिकै पारलौकिक जानि करि भजियहु। किमधिकं।"[1]

उपरोक्त श्री कृष्ण-सम्प्रदाय के मठों में अनेक धुरंधर विद्वान् हुए जिन्होंने व्रजभाषा गद्य को पूर्ण उत्कर्ष प्रदान किया। ये हैं काँकरौली के गोस्वामी हरिराय जी महाराज तथा बिट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी। इन लोगों के विषय में आगे विस्तार से कहा जाएगा।

किसी भी साहित्य की सुरक्षा, उसके परिवर्तन तथा परिवर्धन का तीसरा माध्यम होता है जनता का सहयोग। व्रजभाषा के अनुवाद, उसकी टीकाएँ ज्योतिष, छन्द, समीक्षा, शकुनविचार, आदि विविध विषयों के प्रणेता जनता में से ही उत्पन्न हुए और उन्होंने ही उसका प्रचार तथा उसकी सुरक्षा की। अतः यह कहना कि गद्य को प्रोत्साहन नहीं मिला उचित नहीं। यह बात दूसरी है कि व्रजभाषा काव्य को जो धर्माश्रय और राज्याश्रय मिला वह गद्य को नहीं मिला। पर इतना हो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि व्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह अधिकांश स्वतन्त्र रूप से ही रहा। टीकाओं और अनुवादों का साहित्य कम ही रहा। किन्तु कुल मिला कर व्रज-भाषा के आधिपत्य में गद्य का जो साहित्य निर्मित हुआ वह एकदम नगण्य तो नहीं ही कहा जा सकता। जो कुछ मिला है वही कम नहीं। संस्कृतेतर भारतीय गद्य-साहित्य पर दृष्टि डालने से व्रजभाषा का गद्य-साहित्य अपेक्षाकृत सम्पन्न ही है। उसके अतिरिक्त अभी सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का अनुसन्धान भी प्रस्तुत नहीं हो पाया है। संभव है व्रजभाषा गद्य-साहित्य की कितनी ही विभूतियाँ विभिन्न स्थानों में दबी पड़ी हों।

---

१. तीन जन्म वाली चौरासी वैष्णवन की वार्ता—ग्रन्थ परिचय, पृ० २३।

ब्रज और ब्रजभाषा का क्षेत्र

इसके पूर्व कि हम ब्रजभाषा के गद्य की सम्भावनाओं पर विचार करें यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक होगा कि ब्रजभाषा किस स्थान से किस स्थान तक फैली थी। उसकी साहित्यिक मर्यादा कितनी दूर तक व्याप्त थी। अपने मूल उद्गम से निकल कर दूर-दूर तक फैल जाना ही किसी भाषा की लोकप्रियता का सूचक है। इस दृष्टि से विचार करने पर ब्रज और ब्रजभाषा तथा उसके साहित्य के प्रति हम न्याय कर सकेंगे। अस्तु ! जहाँ तक ब्रजभाषा का सम्बन्ध है, साधारण रूप में उसे हम ब्रज में बोली जानेवाली भाषा कहते हैं। ब्रज का अर्थ संस्कृत भाषा के विभिन्न कोषों के अनुसार 'गो-समूह का निवास-स्थान होता है[१]। इस ब्रजभूमि में सदैव से गौवों का निवास रहा है किन्तु भगवान् श्री कृष्ण की जन्मभूमि होने से इसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई और भक्तों के लिए ब्रज-भूमि का महत्त्व देवलोक से भी अधिक हो गया। भागवत के अनुसार यह पावन भूमि मथुरा से भिन्न किन्तु उसीके निकटवर्ती ग्राम का भाग थी। इसकी सीमा के सम्बन्ध में एक श्लोक और एक दोहा बहुत प्रचलित है :—

पूर्वे हास्यवनं मुन्नीयं पश्चिमे स्योप हारिकम् ।
दक्षिणे जान्हु संज्ञाकं भुवनांस्थु तथोत्तरे ॥

अर्थात् पूर्व में हास्यवन, पश्चिम में उपहारवन, दक्षिण में जान्हुवन और उत्तर में भुवनवन है।[२]

दोहा इस प्रकार है—

उत बरहद, इत सोननद, उत सूरसेन को ग्राम ।
ब्रज चौरासी कोस में मथुरा मण्डल धाम ॥[३]

उपर्युक्त श्लोक और दोहों की असंगति का जो भ्रम मन में उठ सकता है उसका निवारण इन शब्दों से भलीभाँति हो जाता है कि—

---

१. (क) गोष्ठाध्व नितहाः व्रजाः—अमरकोष ।
(ख) व्रजो गोष्ठाध्व वृन्देषु—मेदिनी ।
(ग) व्रज अग्र वन मथुरयोश्चतुष्या पूर्ववर्ति देशः—शब्दकल्पद्रुम ।

२. ब्रजभाषा साहित्य में नायिका निरूपण—पृष्ठ १७—प्रभुदयाल मीतल ।

३. वही ।

यह बरहद अलीगढ़ जिले का कस्बा है। उसे हास्य-वन बतलाया जाता है। सोन गुड़गाँव जिला (पंजाब) में है और उपहार-वन कहा जाता है। सूरसेन के गाँव से वटेश्वर (जिला आगरा) का अभिप्राय है। यही वटेश्वर श्लोक में वर्णित जाह्नु-वन समझा जाता है। अब रहा श्लोक में वर्णित भुवन-वन। इसे आजकल भूषण-वन भी कहते हैं। यह मथुरा जिले के शेरगढ़ तहसील में है। इस प्रकार ब्रजमण्डल की सीमा आगरा, अलीगढ़ और पंजाब तक जाती है। सूरसेन के ग्राम के विषय में केवल किम्वदन्तियाँ नहीं, वरन् ऐतिहासिक खोज के आधार पर मथुरा के पुरातत्त्व के मार्मिक जानकार मिस्टर ग्राउज का दृढ़ अनुमान है कि यह वटेश्वर ही है।[१]

लगता है जैसे यह चौरासी कोस का विस्तार ब्रज का नहीं, वरन् ब्रजभाषा का है, किन्तु सुविधा के लिए जिसे सम्भवतः ब्रज की संज्ञा से विभूषित कर दिया गया है।

यद्यपि शुद्ध ब्रजभाषा का क्षेत्र ब्रजमण्डल ही है, किन्तु इसकी व्यापकता के विषय में नाना प्रकार के मत हैं। ग्रियर्सन ने मुख्य-स्थान ब्रजमण्डल होते

ब्रजभाषा का क्षेत्र

हुए भी, दक्षिण की ओर आगरा, भरतपुर, धौलपुर तथा करौली, ग्वालियर के पश्चिमी तथा जयपुर के पूर्वोत्तर की ओर, गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तथा उत्तर-पूर्व की ओर बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, तथा बरेली और नैनीताल के तराई परगनों तक इसका विस्तार माना है।[२] निश्चय ही यह शुद्ध ब्रजभाषा का क्षेत्र न होकर ब्रजभाषा प्रभावित प्रदेश के रूप में ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित किया गया होगा; क्योंकि दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व तक ९० मील की चौड़ाई और ३०० मील की लम्बाई में जो २७००० वर्गमील का विस्तार उन्होंने माना है, वह वहाँ बोली जानेवाली मुख्य भाषाओं के अतिरिक्त होगा। निस्सन्देह स्थानीय भाषाओं में ब्रजभाषा का गहरा पुट ही सुविधानुसार हो सकता है। किन्तु श्री गुलाबराय जी ने भावावेश में आकर यहाँ तक कह दिया कि जहाँ भगवान् कृष्ण की उपासना है वहाँ ब्रजभाषा का अधिकार है।[३] यह वक्तव्य भावुकतापूर्ण ही कहा जा सकता है क्योंकि भाषा-विज्ञान का साधारण नियम यह है कि प्रत्येक दो मील के उपरान्त स्थानीय भाषा में कुछ-न-कुछ परिवर्तन आ जाता है। अतः गुलाबराय जी के वक्तव्य की

---

१. ब्रज भारती—वर्ष २, अंक ९।

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, वाल्यूम ९, पार्ट १, पृष्ठ ६९-७०, Grierson.

३. 'साहित्य सन्देश,' मई १९५१।

भँवर में तो कृष्णोपासक सभी प्रान्त आ जाते हैं, जहाँ ब्रजभाषा का कोई रूप नहीं पाया जाता। संभवतः ऐसा कहते समय उनके ध्यान में चैतन्य, चंडीदास प्रभृति सन्तों की वह भूमि रही हो जहाँ कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य को ब्रजबुलि कह कर सम्बोधित किया गया है। किन्तु ब्रजभाषा और ब्रजबुलि में मौलिक अन्तर है, उसकी व्याख्या मैं आगे चल कर करूँगा। मिर्जा खाँ ग्वालियर तथा इन्दवाड़ा इत्यादि को ही ब्रजभाषा की सीमा में नहीं बाँध लेते वरन् "गंगा और जमुना के दोआब का भी वे धड़ल्ले से बोली वाले प्रान्त"[१] के रूप में उल्लेख करते हैं। श्री सुनीति कुमार चटुर्ज्या इसे पश्चिमी हिन्दी की उपभाषा बतलाते हुए कहते हैं "कि यह बरेली, आगरा, मथुरा तथा करौली तक बोली जाती है[२]।" किन्तु इस प्रकार यह निर्णय नहीं हो पाता कि वास्तव में ब्रजभाषा का शुद्ध क्षेत्र कौन-सा है। उससे प्रभावित प्रदेश तो अनेक और विस्तृत है। इसके लिए सब से उपयुक्त माध्यम तो यह होगा कि हम ग्रियर्सन के उस विस्तृत प्रदेश को दृष्टि में रख कर यह देखें कि किस-किस स्थल पर ब्रजभाषा तद्देशीय भाषा के साथ मिश्रित हो कर अपना रूप परिवर्तित करती है, या दूसरे शब्दों में यह कि कहाँ उसके शुद्ध रूप में विकार आना प्रारम्भ हो जाता है। तब यह निश्चय करना अधिक सुविधापूर्ण होगा कि शुद्ध ब्रजभाषा का क्षेत्र कौन-सा है।

इतना तो निश्चित है कि अन्य प्रान्तों में कान्यकुब्जी, सूरसेनी, बुंदेलखंडी, ढुँढारी, अन्तर्वेदी आदि भाषाओं से भिन्न ब्रजभाषा बोली जाती है। अतः इस भाषा-भाषी प्रदेश को निकाल लेने पर जो हाथ लगते हैं वे प्रदेश हैं अलीगढ़ जिले के सिकंदरामऊ, आगरे का फीरोजाबाद, फतहाबाद, करौली तहसील, भरतपुर का थाना, कुमेर, दींग, नगर तहसील में गुड़गाँव का परवल, बुलन्दशहर का खैर तथा खुर्जा तहसील के मध्यवर्ती देश। श्री धीरेन्द्र वर्मा जी के वक्तव्य से रास्ता और भी साफ हो सकता है, "गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी और बुंदेली की कुछ-कुछ झलक आने लगती है; बुलंदशहर, बदायूँ, और नैनीताल की तराई में खड़ी बोली का प्रभाव शुरू हो जाता है; तथा एटा, मैनपुरी और बरेली जिलों में कुछ कन्नौजीपन आने लगता है[३]।" चूँ कि पीलीभीत तथा इटावा की बोली ब्रजभाषा

---

१. ए ग्रामर आव ब्रजभाषा—मिर्जा खाँ।

२. द ओरिजिन एन्ड डेवलपमेन्ट आफ़ बँगाली लैंग्वेज, पृ० १३—एस० के० चटर्जी।

३. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृष्ठ ६५, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा।

के अधिक निकट होते हुए भी कन्नौजी के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकी है इसलिए उन्होंने विशुद्ध रूप में इस बोली को अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़, तथा धौलपुर में बोली जाने वाली माना है। इतना तो निश्चित है कि सभी विद्वानों ने मथुरा को केन्द्र में रख कर ही अपनी परिधि का विस्तार या संकोच किया है। अतः निकटवर्ती प्रदेशों में यत्किंचित् परिवर्तन होते हुए भी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा दिए गए विशुद्ध व्रजभाषा-भाषी प्रदेश से असहमति प्रकट करने का कोई कारण नहीं दीखता।

व्रजभाषा का विकास

यह बहुप्रचलित भाषा शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप है। शौरसेनी प्राकृत में राजस्थानी के मिश्रण से शौरसेनी अपभ्रंश का निर्माण हुआ है। यह अपभ्रंश तुर्कों के आने के शताब्दियों पूर्व तक भारतीय आर्य-भाषाओं में प्रमुख स्थान अधिकृत किए रही। भारत में तुर्कियों तथा इरानियों की स्थिति दृढ़ हो जाने तथा दिल्ली में शासन-स्थापना हो जाने के उपरान्त उत्तरी भारत में सामान्य जनता द्वारा पश्चिमी अपभ्रंश-भाषा का प्रयोग होता था। व्रजभाषा १६वीं शताब्दी में उसी से प्रमुख स्थान पर पहुँची।[१] सामान्य जनता के अतिरिक्त यह साहित्य में भी धड़ल्ले से प्रयुक्त होने लगी थी। शौरसेनी अपभ्रंश से व्रजभाषा का यह विकसित रूप, एकाएक नहीं, शताब्दियों के अनन्तर आया है। अतः कभी-कभी तो अपभ्रंश (शौरसेनी) तथा प्राचीन व्रजभाषा के रूपों के भेद निकालना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

इसकी विशेषताओं पर थोड़ा-सा ही ध्यान देने से हम तत्कालीन प्रचलित भाषा से इसकी विभिन्नता को पकड़ सकते हैं। अपने केन्द्र-स्थान मथुरा से यह भाषा जिधर-जिधर फैली है उधर-उधर की भाषाओं के संसर्ग से इसके मौलिक रूप में कुछ-न-कुछ विकार होता गया है; इसकी मुख्य प्रवृत्ति ओकारान्त हो जाने की रही है। ओकारान्त पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत-ग्रस्त तथा कहीं-कहीं वर्तमान कृदन्त भी ओकारान्त हो जाते हैं; जैसे—घोड़ों, चल्यो, कियौ आदि। संस्कृत के घोटक शब्द का प्राकृत रूप घोड़यो होता है जिससे व्रजभाषा का घोड़ो, रूप बनता है। इसी प्रकार संस्कृत के भूत और वर्तमान कृदन्तों के अंतिम 'त' का प्राकृत में अ+उ हो जाता है। जैसे चलितः से चलिअउ और व्रजभाषा में जाकर यही चल्यो हो गया। 'उ' भी स्वार्थे (क) के घिसे रूप (अ) का उकारान्त (प्रथमा, द्वितीया का)

१.—इन्डोआर्यन एन्ड हिन्दी लैंग्वेज, पृष्ठ १७, एस० के० चटर्जी।

'अ' है। संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग जिस रूप में होता है उसी प्रकार ब्रजभाषा में 'रा' आदि होता है; यथा—हियरों, जियरा, बदरा, तथा चवैया, और कन्हैया आदि है; यही खड़ी बोली में 'ड़ा' जैसे—मुखड़ा, बछड़ा और अवधी में 'वां' जैसे करेजवां, तथा 'वा' जैसे विधवा, इत्यादि हो जाता है। ऐसे शब्द न तो ओकारान्त होते हैं और न इनके विकारी रूपों में 'आ' का 'ए' होता है। ब्रजभाषा के कारक चिह्न भी अवधी और खड़ी बोली से भिन्न होते हैं।[1]

शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न होने के कारण सन्धिकालीन भाषा अवहट्ट तब उसके बाद पिंगल के रूप में ब्रजभाषा विकसित हुई। अपभ्रंश काल की

ब्रजभाषा तथा अन्य देशीय भाषाएँ

समाप्ति पर लोकभाषा का जो ढाँचा तैयार हो रहा था उसके दो मुख्य रूप थे—गुजराती और राजस्थानी। ब्रजभाषा से अप्रभावित वह राजस्थानी जो गुजराती से मेल खाती थी डिंगल कहलाई। डिंगल और पिंगल के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा। ग्रियर्सन ने 'इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स' के विषय में लिखते हुए इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

बहुत से मारवाड़ी कवियों ने एक प्रकार की हिन्दी (ब्रजभाषा में लिखी) जो स्थानीकृत होने के कारण पिंगल कहलाई। पर केवल मारवाड़ी में ही लिखी जाने पर पिंगल के विरोध में उस भाषा का नाम डिंगल पड़ा। कहने का तात्पर्य यही है कि केवल ब्रजभाषा के कारण ही राजस्थानी के परिवार में विभेद हो गया और इस रूपवती ने राजस्थानी को क्रमशः डिंगल तथा पिंगल दो घरों में बाँट दिया।[2]

अक्सर ब्रजभाषा, और ब्रजबुलि के सम्बन्ध में (दोनों का ही कृष्ण-भक्ति-प्रधान साहित्य होने के कारण) लोग भ्रम में पड़ सकते हैं। बाबू गुलाबराय जी ने सम्भवतः इसी को ध्यान में रख कर कहा कि "जहाँ-जहाँ भगवान् कृष्ण की

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इन्डिया, ग्रियर्सन, वाल्यूम नाइन्थ, पार्ट वन्, पेज ६९–७०।

२. Most of the Marwari poets wrote in Braj Bhasa form of Hindi, which when so used is locally known as Pingal. When poems were written in Marwari itself the language was called in contradiction Dingal.

Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institute, 1918, page 59.

उपासना है वहाँ-वहाँ ब्रजभाषा का अधिकार है[१] ।" कुछ ऐसा ही अस्पष्ट वक्तव्य गोस्वामी राधाचरण जी ने दिया है—"न केवल मध्यदेश के कवि, वरन् मिथिला के विद्यापति, बंगदेश के चंडीदास, गोविन्ददास, आदि ने भी इसी भाषा में कविता की है। पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र आदि में भी इस भाषा में अनेक कार्य हुए हैं। जिनके ग्रन्थ ही इसके प्रमाण हैं। कवियों की यह साधारण भाषा है[२] ।" निश्चय ही ये ब्रजभाषा के प्रति अत्याधिक व्यामोह-ग्रस्त हृदय के उच्छ्वसित उद्गार-मात्र ही हैं। पिंगल, अवहट्ट और ब्रजबुलि आदि भाषाओं को उन्होंने इसलिए समेट लिया है, क्योंकि इनमें ब्रज और कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य की रचनाएँ लिखी गई हैं। किन्तु मात्र इनके नाम आ जाने के कारण ही कृष्ण और ब्रज के लिए प्रयुक्त भाषा ब्रजभाषा नहीं हो जाती, पिंगल और डिंगल का भेद मैं पहले कर चुका हूँ। अतः ब्रजबुलि और ब्रजभाषा के भेद को भी जान लेना आवश्यक है।

ब्रजबुलि और ब्रजभाषा

विद्यापति के राधा-कृष्ण-सम्बन्धी गीतों ने बंगाल के वैष्णव गीतों को अत्यधिक प्रभावित किया। बंगाल में सर्वत्र उनका प्रचार, अनुकरण, तथा पठन-पाठन होने लगा। अनपढ़ बंगालियों ने मैथिली मिश्रित बंगला तथा कृष्ण-राधा-सम्बन्धी गीतों में प्रचलित पश्चिमी हिन्दी के शब्दों को लेकर एक काव्यात्मक आन्दोलन का रूप खड़ा कर दिया। इसी मिश्रित भाषा का नाम ब्रजबुलि अथवा (ब्रज की भाषा) पड़ा। इस नाम पड़ने का एक कारण था—इनमें राधाकृष्ण के प्रेम का तथा मथुरा, वृन्दावन आदि के दृश्यों का होना। यह ब्रजबुलि पश्चिमी हिन्दी की ब्रजभाषा से बिलकुल भिन्न भाषा है। गोविन्ददास तथा वामनदास आदि बंगाली कवियों ने इसी कृत्रिम (ब्रजबुलि) भाषा में अपनी कविताएँ कीं। इसके सम्बन्ध में चाटुर्ज्या ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

"एक पूर्णतया कृत्रिम बोली, सब लोगों द्वारा काव्य के लिए किस प्रकार प्रयुक्त की जा सकती है, ब्रजबुलि इसका साक्षात् उदाहरण है। बंगाल में इसके स्थान की तुलना शौरसेनी अपभ्रंश तथा अवध (मध्यप्रदेश की भारतीय आर्य-भाषा) तथा उत्तरी भारतीय आर्यभाषा काल से की जा सकती है[३] ।"

---

१. साहित्य सन्देश—मई १९५१।

२. कार्य-विवरण, भाग २, प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी।

३. Brajbuli Poetry is a standing example of the extent to which an entirely artificial dialect can be utilized by

इस प्रकार व्रजभाषा और व्रजबुलि का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के कारण उसमें प्राचीन भाषाओं के तद्भव शब्दों का समावेश तो हुआ ही साथ ही साथ संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्द भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। इसका कारण था मध्यदेश। वहाँ से व्रजभाषा उत्पन्न हुई; और जो संस्कृत-साहित्य के भी अभ्युदय का केन्द्र रहा।

मुसलमानी शासन तथा शाही दरबार द्वारा प्रोत्साहन पाने के कारण इसका व्यापक प्रचार हुआ। मुसलमान कवियों ने भी इसी भाषा में काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी, अतः अरबी और फारसी के शब्द भी इसमें अधिकाधिक आ गए। जिससे हानि की अपेक्षा शब्द भांडार की वृद्धि ही हुई तथा भाव-प्रकाशन की क्षमता भी बढ़ गई।

संस्कृत, फारसी, अरबी के अतिरिक्त हिन्दी की उपभाषाओं के, यथा अवधी, कन्नौजी, बुन्देली, राजस्थानी तथा पंजाबी भाषाओं के कुछ शब्द भी उक्त भाषा क्षेत्रों के निवासियों द्वारा व्रजभाषा काव्य की रचना करने की वजह से मिल गए।

अपने केन्द्र-स्थान मथुरा से जिधर-जिधर होकर यह फैली है उधर-उधर की स्थानीय भाषाओं के संसर्ग से इसके रूप में विकार होता गया है। यथा

व्रजभाषा के अन्य रूप

पूर्व की व्रजभाषा जहाँ कन्नौजी में मिलती है वहाँ अन्त-वेंदी कही जाती है; ग्वालियर के उत्तर-पूर्व के कोने में जिधर सिकरवारी राजपूत रहते हैं, वहाँ सिकर-वारी नाम से जानी जाती है; करौली तथा ग्वालियर भाग में जादों द्वारा बोली जाने की वजह से जोदोबली कहलाती है; भरतपुर के दक्षिणी खण्ड, करौल तथा पूर्वी जयपुर में इसे डांग कहा जाता है; और इसी प्रान्त के पहाड़ी गुर्जरवासियों द्वारा यह डांगी कहलाती है। यदि इसके भी उपविभाग किए जाएँ तो डूंगरवारा, कालीमठ, तथा डंग, भंग नाम से इसे बाँट सकते हैं। पूर्वोक्त अनुसार नैनीताल की तराई की मिश्रित भाषा को

---

a whole people for poetic exercise, and its position in Bengal can be compared with that of Saurseni Apbhramsa and Avahatta outside the midland in the late M. I. L. and early N. I. A. periods.

Origin and Development of Bengali Language, p. 103.
—S. K. Chatterji.

भुक्सा कहते हैं। इस प्रकार व्रजभाषा का रूप के साथ-साथ नाम भी बदलता गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने समय की सर्वशक्तिमान इस भाषा का सम्बन्ध प्रायः तत्कालीन सभी भाषाओं, यथा—प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, राजस्थानी तथा मैथिली, आदि भाषाओं से घनिष्टतम रूप में रहा है। अतः इसके स्वाभाविक विकास का उत्स जानने के लिए ही प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं के उदाहरणों को देने की आवश्यकता पड़ी।

ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

ब्रजभाषा गद्य की जितनी सामग्री प्राप्त है उसके अनुसार हम उसे दो भागों में बाँट सकते हैं। पहला मौलिक साहित्य तथा दूसरा अमौलिक साहित्य। मौलिक साहित्य के अन्तर्गत उन स्वतन्त्र रचनाओं का क्रम आएगा जो प्रतिभा-प्रगल्भ हृदय से उद्भूत होकर प्रसन्न रूप से प्रवाहित हुआ है। दूसरे प्रकार की रचनाएँ, अनुवाद और टीका-टिप्पणियों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का एक-एक भेद और हो सकता है। वह यह कि इनमें से प्रत्येक कुछ तो केवल गद्य में हैं और कुछ ऐसी हैं जिनमें गद्य के साथ-साथ पद्य का भी उपयोग किया गया है। कुछ ऐसी भी हैं जिनमें या तो गद्य की प्रधानता है या पद्य की।

ब्रजभाषा गद्य का मौलिक या स्वतन्त्र साहित्य अत्यधिक व्यापक तथा बहु-विषय-संयुक्त है। तत्कालीन देश और काल का ध्यान रखते हुए ब्रजभाषा गद्य की यह विविधिता साहित्य की सम्पन्नता ही सूचित करती है। समस्त मौलिक साहित्य को तीन श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है।

मौलिक साहित्य का सामान्य परिचय

(क) धार्मिक,
(ख) साहित्यिक तथा
(ग) अन्य।

जहाँ तक धार्मिक विषय के ग्रन्थों का प्रश्न है उसके भी दो उपविभाग किए जा सकते हैं।

१. साम्प्रदायिक—(क) नाथ सम्प्रदाय। (ख) राम सम्प्रदाय। (ग) कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय।

२. सम्प्रदायेतर पुराण, महाभारत, नीति, चरित्र, तथा लीला-वर्णन आदि।

नाथ सम्प्रदाय के नाम का इसलिए उल्लेख कर दिया गया कि गोरखनाथ द्वारा लिखे हुए 'गोरखसार' का उद्धरण प्रत्येक विद्वानों द्वारा ब्रजभाषा गद्य के लिए दिया गया है। यद्यपि इसमें कहीं भी नाथ सम्प्रदाय के प्रचार या प्रसार के लिए कोई वक्तव्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

राम-भक्ति सम्प्रदाय कहने का भी मेरा केवल इतना ही तात्पर्य है कि मैं

नाभादास जी द्वारा लिखित 'अष्टयाम' की ओर संकेत कर सकूँ जिसमें कि श्री रामचन्द्र जी की दिनचर्या का वर्णन है।

सम्प्रदाय के नाम पर जो कुछ साहित्य रचा गया अधिकतर उसमें कृष्ण-सम्बन्धी ही है। वास्तव में कहा जाए तो ब्रजभाषा गद्य का साहित्य भी कृष्ण-सम्बन्धी विषयों से उसी प्रकार व्याप्त है जैसे पद्य का साहित्य।

उस समय कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी दो सम्प्रदायों का अत्यधिक जोर था। बल्लभ सम्प्रदाय और टट्टी सम्प्रदाय। बल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु बल्लभाचार्य का धार्मिक सम्प्रदायों में जितना अधिक आदर और प्रभाव था उस समय के किसी भी सम्प्रदाय के आचार्य का नहीं। गोकुलनाथ तथा हरिराय जी जैसे प्रकांड साहित्य के महारथियों का आश्रय पाकर, उन जैसा प्रचारक पाकर, बल्लभ सम्प्रदाय जितना अधिक लाभान्वित हुआ सो हुआ ही, प्रचारार्थ जनता की बोली में ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य वार्ताओं द्वारा इतना अधिक सुसम्पन्न हुआ कि ब्रजभाषा-काव्य के समान ही वह परवर्ती लेखकों द्वारा विविध विषय सम्पादन के निमित्त स्वीकृत कर लिया गया। इन लोगों के अतिरिक्त सं० १८२३ के लगभग किसी ने 'पुष्टि दृढ़भाषा' की रचना की जिसमें पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों का उल्लेख और विवेचन भी किया गया।

दूसरा टट्टी सम्प्रदाय था। जिससे सम्बद्ध गुरु-शिष्य स्वामी ललित किशोरी और ललित मोहिनी ने सं० १८०० के लगभग 'श्री स्वामी महाराज की बचनिका' लिखी।

सम्प्रदायेतर कहने से मेरा तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनकी मूल वृत्ति तो धार्मिक है किन्तु वे किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती हैं। वे हैं धार्मिक और पौराणिक रचनाएँ। जैसे सं० १८६० के लगभग बैकुंठमणि शुक्ल ने राजा यशवन्त सिंह की रानी चन्द्रावती की फर्माइश पर 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' लिखा।

ऐसे ही विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य में मीनराज प्रधान ने 'हर-तालिका की कथा' और श्री नवल सिंह ने 'महाभारत वार्तिक' में महाभारत की कथा लिखी। 'नित्य विनोद', 'नीति विनोद', 'श्री महाप्रभु जी तथा गुसाईं जी का चरित्र' तथा 'श्री द्वारकाधीश जी की प्राकट्यवार्ता' आदि। सं० १७२९ में ब्रजभूषण-विरचित ग्रन्थ भी इसी कोटि में आते हैं।

मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि कुछ गद्य-पद्यमय ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनके विषय कृष्ण-लीला, वेदान्त या ब्रह्मज्ञान आदि हैं। सं० १८२९ के वैष्णव व्यास कृत 'भक्तमाल प्रसङ्ग' में कृष्ण की लीला का वर्णन है। तथा

जोधपुर के राजा यशवन्त सिंह के विक्रम की १८वीं शती के मध्य के 'सिद्धान्त बोध' में ब्रह्म-ज्ञान का विचार है।

ब्रजभाषा में गद्य का साहित्यिक प्रयोग अधिकतर टीकाओं में परिलक्षित होता है किन्तु यत्र-तत्र स्वतन्त्र या मौलिक गद्य-ग्रन्थ भी पाए जाते हैं।

स्वतंत्र साहित्यिक रचनाएँ

उपलब्ध साहित्यिक सामग्री में विषय की यद्यपि विविधता नहीं है किन्तु शैली के दो रूप तो स्पष्टतः प्राप्त हैं। पहला है केवल गद्यमय तथा दूसरा गद्य-पद्यमय। जहाँ तक विषय वस्तु का प्रश्न है सम्पूर्ण स्वतन्त्र साहित्य के गद्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है (१) रचनात्मक तथा (२) शास्त्रीय।

रचनात्मक के अन्तर्गत 'विदग्ध-विलास' नाटक के आधार पर ब्रजभाषा का एक गद्य ग्रन्थ श्री रामहरि जी द्वारा लिखा गया।

शास्त्रीय ग्रन्थ अलंकार, रस, नायिका-भेद, छंद आदि विषयों पर पाए जाते हैं। केवल गद्य में जयगोविन्द वाजपेयी का 'कवि सर्वस्व' प्राप्य है, तथा गद्य के साथ-साथ पद्य में पिंगल, अलंकार, नखशिख, ऋतुवर्णन, आदि विषयों पर ग्रन्थ मिलते हैं। सुखदेव सिंह मिश्र का 'पिंगल,' बनारसी दास का 'बनारसी विलास,' बख्शी समन सिंह का 'पिंगल काव्य भूषण' (१८७८) भिखारीदास का 'छंद प्रकास' महाराज मानसिंह कृत 'नाथ प्रशंसा' तथा बेनी कृत 'टिकैता राय प्रकास' आदि ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं।

अन्य मौलिक रचनाएँ

ब्रजभाषा गद्य में धार्मिक तथा साहित्यिक प्रकार की मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य मौलिक ग्रन्थ भी पाए जाते हैं जिनके विषय नवीन हैं और ब्रजभाषा गद्य-साहित्य की बहुमुखी व्यापकता को सिद्ध करने वाले हैं। इस प्रकार की रचनाओं को विषय के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है:

१. ऐतिहासिक,
२. पशुचिकित्सा सम्बन्धी,
३. ज्योतिष तथा शकुन विचार आदि।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के अन्तर्गत सं० १८२० के लगभग ब्रजभाषा गद्य में लिखा हुआ 'मुगल बादशाहों का संक्षिप्त इतिहास' की एक रचना प्राप्त हुई है। यह चालीस पृष्ठों में है और इसके लेखक का पता नहीं चलता। श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'सूरदास की वार्ता,' परिशिष्ट दो के पृष्ठ ८६ पर इसका

उल्लेख किया है। इसी के अन्तर्गत जटमलकृत 'गोराबादल की कथा' और कवि महेशकृत 'हम्मीर रासो' का भी उल्लेख किया जा सकता है।

एक अज्ञात लेखक द्वारा 'बाजनामा व दौलतनामा' नामक एक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों का खोज रिपोर्ट में उल्लेख है इसमें 'फीरोज शाह ने हकीमों से कहा कि एक जानवरों की पहिचान व इलाज मुकर्रर करो।' इस पर इस ग्रन्थ की रचना किसी हकीम द्वारा की गई।

व्यास कृत 'शकुन विचार' तथा यदुनाथ शुक्ल कृत 'पंचांग दर्शन' नामक ग्रन्थ भी ब्रजभाषा गद्य में लिखे गये।

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री बिट्ठलनाथ महाराज गोस्वामी तुलसीदास तथा हरिराय जी के समकालीन सेवक के पत्र भी पाए गए हैं। बिट्ठलनाथ जी के पत्र की भाषा का उदाहरण तो पिछले अध्याय में दिया जा चुका है किन्तु सेवक जी और गोस्वामी जी के पत्रों की भाषा का स्वरूप अगले अध्याय में प्रकट किया जाएगा।

इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य की समस्त उपलब्ध सामग्री पर सम्यक् दृष्टि-निक्षेप करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रजभाषा गद्य का साहित्य पर्याप्त तथा बहुमुखी था। इसके अतिरिक्त दो शैलियाँ भी स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती हैं। पहली है केवल गद्य की तथा दूसरी गद्य शैली पद्य संयुक्त है। ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ धार्मिक विषयों का प्रतिपादन, तत्सम्बन्धी चर्चा, विवाद या वार्ता की विवेचना होती है, वहाँ केवल गद्य का ही प्रयोग पाया जाता है; किन्तु जहाँ साहित्यिक विषयों की चर्चा आती है वहाँ पद्यमय गद्य की प्रमुखता बढ़ जाती है। यह तो हुआ ब्रजभाषा के मौलिक गद्य के साहित्य का संक्षिप्त परिचय। अब अगले पृष्ठों में कालानुक्रम से ब्रजभाषा के गद्य तथा उसके लेखकों का परिचय देने का प्रयत्न किया जाएगा।

ब्रजभाषा-गद्य का मौलिक विकास-क्रम

ब्रजभाषा गद्य का सबसे प्रचीन उदाहरण गोरखपंथी साधुओं की रचनाओं में मिलता है। इस पंथ के प्रवर्तक गोरखनाथजी थे। लोगों का .अनुमान है कि 'गोरखसार' नामक पुस्तक जो ब्रजभाषा गद्य में है उन्हीं की लिखी है। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'पूछिबा,' 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण लेखक के राजस्थान निवासी होने का अनुमान किया है[1]। किन्तु उन्होंने निश्चय रूप से उसे सं० १४०० के ब्रजभाषा गद्य का नमूना माना है[2]। खोज रिपोर्टों के आधार पर 'मिश्रबन्धु-विनोद' में महात्मा गोरखनाथ का समय सं० १४०७ बताया गया है किन्तु डाक्टर रामकुमार वर्मा ने 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' तथा कुछ और दूसरे प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित किया है कि 'गोरखनाथ का समय विक्रम की तेरहवीं शती का मध्यकाल अर्थात् संबत १२५० था।'[3] इसके माने तो यही हुआ कि गोरखसार यदि गोरखनाथ कृत है तो उसकी भाषा संवत् १२५० की होगी।

गोरखपंथी गद्य

क्या गोरखसार गोरखनाथ की रचना है ?

किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या गोरखसार का गोरखनाथ द्वारा लिखा जाना संभव है ? हम ऊपर अनेक विद्वानों का मत देख चुके हैं पर सर्वाधिक प्रामाणिक और नवीनतम मत गोरखनाथ के काल के सम्बन्ध में है डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का। उन्होंने अनेक पुष्ट तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि 'वस्तुतः गोरखनाथ को दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता'[4]। यदि बात ऐसी ही है तो यह निश्चित हो गया कि गोरखसार गोरखनाथ कृत कदापि नहीं है। क्योंकि उसकी भाषा को इतनी दूर तक घसीटकर प्राचीन नहीं सिद्ध किया जा सकता। अतः सम्भावना तो क्या मेरा विश्वास है कि यह या तो गोरखनाथ की किसी रचना का अनुवाद मात्र हो या उनके किसी राजस्थानी शिष्य का कृतज्ञता प्रकाशन, जो इस प्रकार गुरु-ऋण से मुक्त होना चाहता हो। अस्तु, अब किसी विवाद में पड़ने की अपेक्षा मैं

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४०४।

२. वही।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० १३२।

४. नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ ९८।

आलोच्य अवतरण का उदाहरण उपस्थित कर रहा हूँ। प्रायः सभी लोगों ने इसी अवतरण को उद्धृत किया है :

"सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थस्थान करि चुकौ अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्रह्मननि को दे चुकौ अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पुजि चुकौ अरु पितरन को संतुष्ट करि चुकौ स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ जा मनुष्य के मन छन मात्र ब्रह्म के विचार बैठो''पराधीन उपरांति बन्धन नांही सुआधीन उपरांति मुकुति नांही चाहि उपरांति पाप नांही अचाहि उपरांति पुनि नांही क्रम उपरांति मल नांही निहिक्रम उपरांति निरमल नांही दुष उपरांति कुबधि नांही निरदोष उपरांति सुबधि नांही धीर उपरांति मन्त्र नांही नारायण उपरांति ईसर नांहीं निरंजन उपरांति ध्यान नांही।

यद्यपि इसकी वाक्य-रचना तथा इसके शब्दों के रूपों में क्रमहीनता है फिर भी भावों की व्यंजना तो हो ही जाती है दूसरा उदाहरण भी उसी प्रकार का है :

श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्दस्वरूप जिन्हको जिहिके नित्य गाये तो शरीर चेतनि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हो गोरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ आत्म-ज्योति निश्चल हैं अन्तहकरन जिनको अरु मूलद्वार तै छदचक्र जिनि नीकी तरह जानै अरु जुगकाल कल्प इनिकि रचना तत्व जिनि गायो सुगन्ध को समुद्र तिनकौ मेरी दण्डवत।"

"स्वामी तुम तो सतगुरु अम्हे तो सिष सबद एक पूछिवा दया करि कहिवा मनन करिवा रोस। पराधीन उपरांति बन्धन नांही सुआधीन उपरांति मुकति नांही चाहि उपरान्ति पाप नांही अचाहि उपरान्ति पुनि नांही सुसबद उपरान्ति पास नांही नारायण उपरान्ति ईसर नांही।"

लगता है कि उपरोक्त अवतरण में गोरखनाथ का नाम प्रथम पुरुष में आ जाने के कारण ही लोगों को इसे इन्हीं द्वारा रचित होने का भ्रम हो गया। किन्तु यह तो निश्चित है कि यह उनका लिखा नहीं ही है। सम्भव है किसी शिष्य ने लिखा हो। किन्तु 'तुह्म' 'हह्म' आदि शब्दों के कारण यह परवर्ती होने पर भी प्राचीन-सा लगता है। यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्द जैसे 'आनन्दस्वरूप', 'निश्चल', 'मूलद्वार' आदि पुनः शंका का बीज वपन कर देते हैं। किन्तु एक प्रवृत्ति इसमें ध्यानपूर्वक देखने से और लक्षित होती है। वह है अनुस्वार लगाकर संस्कृत का आभास देने की। जैसे 'नांही' इसके

अतिरिक्त शुक्ल जी ने इसे 'पूछिवा', 'कहिबा', 'करबा' के कारण राजस्थानी प्रयोग माना है किन्तु मेरा तो ऐसा अनुमान है कि भविष्यत् के जिस काल के व्यंजनार्थ ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं उसी काल के व्यंजनार्थक रूप में यही शब्द 'पुछवा', 'कहवा', 'करबा', आदि के रूप में थोड़ा-सा परिवर्तित होकर काशी में बोली जाने वाली भाषा के ही रूप लगते हैं। मेरे इस अनुमान का कारण डाक्टर मोतीचन्द्र द्वारा 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण'[१] से उद्धृत 'वेद पढ़ब,' 'स्मृति अभ्यासिब', 'पुराण देखब' आदि शब्दों के रूप हैं। यदि ऐसा सम्भव हुआ तो प्रस्तुत अवतरण की प्राचीनता का कारण और अधिक बढ़ जाने की सम्भावना हो सकेगी।

इसकी प्राचीनता के प्रति मेरा आग्रह बढ़ने का एक और कारण है, वह है इसकी शैली, 'है कैसे परमानन्द आनन्दस्वरूप शरीर जिन्हि को।' तथा 'है कैसे वे मछन्दरनाथ आत्मज्योति निश्चल है अन्तहकरन जिनिको' स्वगत प्रश्न-उत्तर की इस शैली को देखते ही 'वर्णरत्नाकर' की उस शैली का तुरन्त ध्यान आ जाता है 'पुनि कैसन देसु' और फिर वर्णन का क्रम चलने लगता है[२]।

जो कुछ भी हो गोरखनाथ के विषय में अनेक दन्तकथाएँ होते हुए भी उनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे ब्रज के निवासी थे। विशेषतः जब इस बात के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई कि प्रस्तुत गद्य उनका लिखा है। फिर भी इस उद्धरण का समय १४०० तक ले जाया जा सकता है, क्योंकि उस समय तक राजस्थान से लेकर पूर्व तक के निवासियों में ब्रजभाषा गद्य लिखने की पद्धति प्रचलित हो चुकी थी।

गोरखनाथ के इस ब्रजभाषा के अवतरण को राजस्थानी से प्रभावित मानने की अपेक्षा मैं अपनी यह राय प्रकट कर देना अनुचित नहीं समझता कि राजस्थानी का ब्रजभाषा की ओर उन्मुख होने का यह एक उत्तम उदाहरण है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि राजस्थानी गद्य का साहित्य परवर्ती अपभ्रंश काल का साहित्य है और प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। दानपत्रों, पट्टों परवानों, बात, ख्यात, बचनिकाओ, राजाज्ञा, आदि में राजस्थानी गद्य का पूर्ण प्रचलन था। दूसरे राजस्थानी शौरसेनी अपभ्रंश की जेठी बिटिया होने के कारण ब्रजभाषा

---

१. सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ; काशी की प्राचीन शिक्षा पद्धति और पंडित, ले०—मोतीचन्द हिन्दी, पृष्ठ ३८।

२. वर्णरत्नाकर, पृष्ठ १।

की बड़ी बहन है। अतः जिस समय राजस्थानी का साहित्य लिखा जाता रहा, ब्रजभाषा उस समय केवल एक विभाषा के रूप में ही मध्यदेश में रही होगी। धीरे-धीरे अपने माधुर्य और कोमलता के कारण उसका प्रयोग साहित्य में होने लगा होगा। यह बात उठाने का कारण केवल यही है कि गोरखनाथ के उपरान्त ब्रजभाषा गद्य दो सौ वर्ष तक नहीं प्राप्त होता। उसका यह कारण नहीं था कि चौदहवीं शताब्दी के बाद ब्रजभाषा गद्य का साहित्य दो सौ वर्ष के लिए पूर्णतया लुप्त हो गया था। वरन् उस समय राजस्थानी का ही प्राचुर्य था जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

पर एक बात की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता, वह यह कि सोलहवीं शताब्दी में एकाएक ब्रजभाषा के काव्य और गद्य का जो परिमार्जित रूप सामने आया क्या उसके पीछे कोई परम्परा, कोई पीठिका नहीं थी? थी तो वह क्या हुई? यह तो निश्चित है कि सूरदास की काव्यमाधुरी और गोकुलनाथ तथा हरिराय का वार्ता-साहित्य ब्रजभाषा की किसी भव्य परम्परा का परिणाम है। पर उस परम्परा का पता नहीं चलता।

मेरा तो ऐसा अनुमान है कि राजस्थानी और ब्रजभाषा का सम्बन्ध कबीर के बाद वैसा ही रहा जैसा 'विद्यापति' के काल में अवहट्ट और मैथिल का था। बाद को ब्रजभाषा सूरदास तथा अन्यान्य वैष्णव कवियों द्वारा प्रयुक्त होने पर राजस्थानी से छूट कर अलग हो गई। धीरे-धीरे उसका प्रभाव बढ़ता गया और राजस्थानी केवल प्रान्तीय भाषा मात्र रह गई। वह काल ब्रजभाषा की संक्रान्ति का काल था। किसी साहित्यिक भाषा के पतन और लोकभाषा के उदय के साथ जो साहित्य रचा जाता है वह काव्यप्रधान ही होता है। अस्तु, जब चारणों तथा भाटों की वीर रस की कविता से जनता ऊब रही थी उसी समय वैष्णव कवियों द्वारा प्रयुक्त यह भाषा स्वभावतः पदारूढ़ हो गई। पिंगल भाषा के द्वारा हम ब्रजभाषा और राजस्थानी के बीच की कड़ी जोड़ सकते हैं। उत्तरकालीन इस राजस्थानी की मुख्य विशेषता गद्य रचना है। माध्यमिक काल में भी बहुत कुछ लिखा गया होगा पर जैन रचनाओं को छोड़ अन्य गद्य रचनाएँ बहुत ही कम बचने पाई हैं। परन्तु इस काल की रचनाएँ प्रचुरता से प्राप्त होती हैं।[१] अतः यह अनुमान करने में अब दिक्कत नहीं रह गई कि गोरखनाथ का तथाकथित गद्य राजस्थानी गद्य का विकसित रूप है जिसे पिंगल का ब्रजभाषोन्मुखी गद्य कह सकते हैं।

---

१. ढोला मारूरा दूहा—सम्पादक श्रीराम सिंह एम. ए. विशारद, नरोत्तमदास स्वामी एम. ए., सूर्यकान्त पारिख एम. ए., प्रस्तावना, पृष्ठ १६३।

दूसरी वस्तु जिस पर अब विचार करना है कि क्या सौ-सवा सौ वर्षों के बाद तक कोई गद्य की रचना हुई ही नहीं। मैं भाषा के इस सामान्य नियम की बात पहले ही कह आया हूँ कि संक्रान्ति-काल में भाषा सदैव काव्योन्मुखी रहती है। उसका रूप स्थिर हो जाने पर ही गद्य का साहित्यिक प्रयोग प्रारम्भ होता है। यों तो व्यवहार में वह सर्वसाधारण लोगों द्वारा गद्य में बोली ही जाती है किन्तु वह उसका अलिखित रूप होता है। यही अवस्था तत्कालीन व्रजभाषा की भी रही होगी।

एक दृष्टि इतिहास पर डाल लेना भी अप्रासंगिक न होगा। तुगलक वंश का पतन हो चुका था, खिज खाँ ने, जिसे तैमूर ने लाहौर और मुल्तान की जागीर दी थी, १४१४ में दिल्ली की गद्दी पर अधिकार जमा लिया। परन्तु यह अशान्ति और गड़बड़ी का समय था। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद प्रान्तीय सूबेदारों में अपने बड़प्पन की स्थापना के लिए एक होड़-सी लगी थी। हिन्दू सरदार अपनी खोई हुई राजशक्ति को पुनः प्राप्त करने का उद्योग कर रहे थे। उधर खिज्र खाँ की मृत्यु के उपरान्त उसके निकम्मे लड़के से बहलोल लोदी ने दिल्ली का सिंहासन अपने अधिकार में कर लिया और लोदी वंश की स्थापना की। किन्तु लोदी सुल्तान अमीरों से दबने वाले और अयोग्य शासक सिद्ध हुए। विशेषतः इब्राहीम लोदी की निर्दयता और उसके दुराग्रह से स्थिति और भी खराब होती गई! षड्यन्त्र और राजद्रोह का राज्य में बोल-बाला होने लगा। धार्मिक असहिष्णुता से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के कट्टर शत्रु बने रहे और स्थिति तभी जाकर सुधरी जब मुगलों का राज्य स्थापित हो गया। बाबर और हुमायूँ का जीवन भी भाग-दौड़ तथा राज्य-स्थापना में ही बीता।

ऐसी अवस्था में जिस प्रकार की असंतुलित स्थिति राज्य की होती है उसी प्रकार की मानसिक हलचल व्यक्ति के हृदय में भी बनी रहती है। युद्ध और भाग-दौड़, भय और आतंक के काल में साहित्य तथा कला की उन्नति नहीं हो पाती। राजस्थानी की परवर्तिनी व्रजभाषा के विकास का वही काल था। अतः इस राजनीतिक उपद्रव के कारण साहित्य की गति का अवरुद्ध हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

ब्रजभाषा-गद्य का विकास

ब्रजभाषा-गद्य का वास्तविक विकास सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। यह भारतीय इतिहास में सुख शान्ति और ऐश्वर्य का काल था। मुगलों के आधिपत्य में दिल्ली में केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो गयी थी और उनकी उदार नीति के कारण हिन्दुओं के धर्म, भाषा, रस्म-रिवाज का मुसलमानों पर और मुसलमानों का हिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा। धार्मिक कट्टरता समाप्त हो गई थी।

हिन्दुओं में भक्ति का प्रचार हो रहा था। सगुणोपासना तथा निर्गुणोपासना। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद और थे। निर्गुणोपासना में ज्ञानमार्गी कबीर आदि थे तथा प्रेममार्गी कवियों में जायसी का प्रचार था। इसी प्रकार सगुणोपासना में भी राम-भक्ति शाखा तथा कृष्ण-भक्ति शाखा हो गई थी। एक को लेकर तुलसीदास चले तथा दूसरे को सूरदास ने अपनी कविता का आश्रय दिया। कृष्ण-भक्ति शाखा में कई उपशाखाएँ फूटीं और अलग-अलग सम्प्रदाय स्थापित हो गए। ब्रजभाषा साहित्य को प्रभावित तथा पुष्पित करने का सर्वाधिक श्रेय वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय को ही दिया जा सकता है। पुष्टिमार्गी साधुओं को दाक्षिणात्य होते हुए भी ब्रजभाषा को गद्य का माध्यम इसलिए बनाना पड़ा कि उनके मत का अधिकाधिक प्रचार हो सके। ये आचार्यगण धार्मिक ग्रन्थों की कथा के अनन्तर ब्रजभाषा में अपने उपदेश दिया करते थे। इन उपदेशों को उनके द्वारा नियुक्त लेखक भरसक ज्यों-का-त्यों उतार लिया करते थे। आचार्यों के श्रीमुख से उच्चरित होने के कारण ये अमृत बचन वचनामृत कहलाए। पुष्टिमार्गी पुस्तकालयों में इन वचनामृतों को पर्याप्त परिमाण में पाया जा सकता है। मेरा तो ऐसा विचार है कि ब्रजभाषा-गद्य के विशाल साहित्य के मूल रूप में वचनामृत ही हैं। सर्वप्रथम महाप्रभु वल्लभाचार्य का नाम ब्रजभाषा-गद्य-लेखकों में लिया जाता है। ये पुष्टि सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इनका परिवार वेलनाइ अथवा वेल्लनाडु कहलाता था। इनका जन्म सं० १५३५ शाके १४०० की वैशाख कृष्ण रविवार के दिन हुआ था तथा सं० १५८७ के अषाढ़ शुक्ल ३ को इन्होंने गंगा की बीच धारा में जल-समाधि ले ली। महाप्रभु द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों का नाम लिया जाता है। उनके ग्रन्थों की संख्या कोई ३५ और कोई ८४ बतलाते हैं। उन्हीं के

नाम से प्रसिद्ध '८४ अपराध' नामक एक व्रजभाषा गद्य का ग्रन्थ भी उपलब्ध है। इसे संवत् १५७० से १५८० के बीच की रचना कहा जाता है। किन्तु प्रभुदयाल जो इसे बाद की तथा अन्य व्यक्ति द्वारा रचित मानते हैं।[१]

श्री विट्ठलेश्वर या स्वामी विट्ठलनाथ जी

व्रजभाषा-गद्य के दूसरे प्रसिद्ध लेखक हैं स्वामी बिट्ठलनाथ जी। इनका जन्म संवत् १५७२ शाके १४३७ की पौष कृष्ण ९ शुक्रवार को काशी के निकट किसी ग्राम में हुआ था। आप महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र थे। पहली पत्नी श्री रुक्मिणी देवी से गोस्वामी जी को ६ पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हुईं। संवत् १६१६ में पत्नी का देहान्त हो जाने पर रानी दुर्गावती के आग्रह से आपने पद्मावती नाम की कन्या से दूसरा विवाह कर लिया, जिससे एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। आगे चलकर इनके सात पुत्रों द्वारा पुष्टिमार्ग की सात गद्दियाँ स्थापित हुईं।

विट्ठलनाथ जी का समय सं० १५७२ से १६४२ तक है। इन्होंने पुष्टि सम्प्रदाय की सांगोपांग उन्नति की और अष्टछाप की स्थापना द्वारा व्रजभाषा साहित्य का महान् उपकार किया। उनके प्रोत्साहन से कीर्तन रूप में ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं जिन पर व्रजभाषा साहित्य को गर्व है।

यों तो आप के रचे ५० ग्रन्थों का नाम लिया जाता है किन्तु 'दि सेकेण्ड टर्मिनल रिपोर्ट आन दि सर्वे फार हिन्दी मेन्स्क्रप्ट्स फार दि इयर १९०९, १९१०, एण्ड १९११' में 'शृंगार-रस-मंडन' नामक एक बावन पृष्ठ की व्रजभाषा में लिखित पुस्तक का उल्लेख भी है जिसमें श्री राधा और कृष्ण के विहार का वर्णन है। इसकी भाषा का नमूना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में यूँ दिया है :

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपी जन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबि के इनके मंद हास्य ने जीतै हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।"[२]

श्री शिवनाथ एम.ए. ने इनके 'यमुनाष्टक' की और 'नवरत्न सटीक' नामक व्रजभाषा-गद्य की दो पुस्तकों का और उल्लेख किया है[३]। 'नवरत्न सटीक' की भाषा इस प्रकार है :

---

१. सूरदास की वार्ता—पृष्ठ ७२—मीतल जी।

२. पृष्ठ ४०४

३. अनुशीलन—शिवनाथ एम० ए०।

"वहाँ प्रथम श्री भगवान कलियुग में अधर्म विशेष प्रवर्त गयो देखि के धर्म के स्थापिवे को आप श्री कृष्ण रूप पूरण प्रकट होत भए सो धर्म की स्थापना करि पीछे कलि के जीवन को मोक्ष के अधिकार ते हीन देषि के भक्तिमार्ग प्रकट करि जे पास मय भक्त हुए तिनिको उधार करि दुष्टन को नाश करि पृथ्वी को भार उतार आप बैकुंठ को पधारत भए।"

प्रथम उदाहरण की भाषा उलझी अस्पष्ट और अव्यवस्थित है किन्तु दूसरी की भाषा में तत्सम संस्कृत शब्दों यथा 'मोक्ष', 'अधिकार' 'भक्तिमार्ग' के प्रयोग तथा 'संज्ञा' का क्रिया रूप में प्रयोग 'स्थापिवे' से भाषा में व्यवस्था और ओज आ गया है।

जहाँ तक 'शृंगार-रस-मंडन' का प्रश्न है वह विट्ठलनाथ जी की स्वरचित रचना नहीं ज्ञात होती वरन् उन्हीं द्वारा प्रणीत संस्कृत के 'शृंगार-रस-मंडन' की किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई टीका है। उन्होंने समय-समय पर जो पत्र अपने सेवकों को लिखे थे उनमें से एक की भाषा का उदाहरण मैं सामान्य परिचय में उपस्थित कर चुका हूँ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के दो शिष्य चतुर्भुजदास तथा नन्ददास के नाम से भी गद्य की कुछ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। चतुर्भुजदास-कृत 'षट्ऋतु की वार्ता' श्री द्वारिकादास पारीख द्वारा सम्पादित होकर प्रकाश में आ भी चुकी है। किन्तु उसके विषय में उठने वाली सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि वह हरि-राय की रचना है। इसी प्रकार चतुरसेन शास्त्री ने अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ३९२ में नन्ददास-कृत 'नासकेतु-पुराण भाषा' का उल्लेख किया है। उन्होंने उसमें से ब्रजभाषा गद्य के नमूने के तौर पर एक उद्-धरण दिया है। किन्तु वह अवतरण 'नासिकेतोपाख्यान' नामक एक अन्य ब्रजभाषा गद्य-ग्रन्थ का है जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है और इसका रचना काल भी १७६० के उपरान्त का है।

जो कुछ भी हो विट्ठलनाथ जी का महत्त्व महाप्रभुवल्लभाचार्य के मतप्रवर्तन तथा उनके सिद्धान्तों का पूर्ण विकास करने तक ही सीमित नहीं है; वरन् स्वयं व्यक्तिगत गुण रहने के कारण भी वे महान् थे। सुप्रसिद्ध आचार्य और प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी वे कलाकार, काव्य-संगीत-मर्मज्ञ, चित्रकार तथा ब्रजभाषा के पोषक थे। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने इनकी सेवा-प्रणाली और भक्तिभावना की प्रशंसा करते हुए उनको इस घोर कलिकाल में भी द्वापर युग को उपस्थित कर देनेवाला ब्राह्मण बतलाया है।

गोकुलनाथ जी

गोस्वामी गोकुलनाथ जी बिट्ठलनाथ जी के चौथे पुत्र थे। इनका काल संवत् १६०८ से लेकर १६६९ तक माना जा सकता है। चौथा पुत्र होने के कारण इन्हें बिट्ठलनाथ जी के सप्त-पीठों के सप्तगृहों में से चौथा गृह प्राप्त था। ये बड़े विद्वान् थे तथा कम आयु ही में अपने सम्प्रदाय के प्रमुख व्याख्याता गिने जाने लगे थे। इनके व्याख्यानों और प्रवचनों में भगवत्-चर्चा तथा साम्प्रदायिक रहस्योद्‌घाटन तो हुआ ही करते थे, साथ-साथ ये वल्लभाचार्य जी तथा बिट्ठलनाथ जी के शिष्यों की जीवन-घटनाओं को भी अपनी कथा का विषय बनाते थे। गोकुलनाथ जी के जीवन-चर्चा-विषयक प्रवचन इतने रोचक और शिक्षाप्रद होते थे कि भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिए गए और एक दूसरे के द्वारा बराबर लिखे जाते रहे। गोस्वामी गोकुलनाथ जी के मौखिक प्रवचन ही 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के मूल रूप में हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनके द्वारा रचित ये दो ही विख्यात ग्रन्थ हैं और लोक में भी ऐसी ही प्रसिद्धि है। इन ग्रन्थों के कारण गोकुलनाथ जी का ब्रजभाषा के गद्य-लेखकों में श्रेष्ठ स्थान है यद्यपि इन वार्ताओं की प्रामाणिकता के विषय में अनेक विवाद हैं। आचार्य शुक्ल जी का मत है कि इनके नाम हैं 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता।' इनमें से प्रथम आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी की लिखी कही जाती है पर गोकुलनाथ जी के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है क्योंकि गोकुलनाथ जी का कई जगह बड़े भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमें वैष्णव भक्तों और आचार्य जी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई है। इसका रचनाकाल विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' तो और भी पीछे औरङ्गजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है।[1]

इसी प्रकार डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने भी 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के विषय में सन्देह प्रकट किया है! "क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ कृत है?[2]" शीर्षक से उन्होंने एक लेख लिखा जिसका आशय इस प्रकार प्रकट किया गया है :

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४०४।

२. हिन्दुस्तानी एकेडमी की तिमाही पत्रिका, सं० ८ सन् १९३२।

(क) गोकुलनाथ का नाम इस तरह आया है जिस तरह कोई भी लेखक अपना नाम नहीं लिख सकता। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि कोई तीसरा व्यक्ति गोकुलनाथ के सम्बन्ध में लिख रहा है।

(ख) लाडबाई तथा धारबाई के नौ लक्ष द्रव्य के कारण जो सब मन्दिर खोद डाले गए उसका उल्लेख उस वार्ता में है। किन्तु यह ऐतिहासिक मन्दिर तुड़वाने की घटना १६६९ में प्रारम्भ हुई थी किन्तु खोज के अनुसार गोकुलनाथ जी का समय १५५१ से १६४७ ई० तक माना गया है (स्मिथ आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इन्डिया, पृष्ठ ४३९)। इस तरह गोकुलनाथ-कृत ग्रन्थ में औरंगजेब के राज्य की इस घटना का उल्लेख सम्भव नहीं है। इस उल्लेख से यह भी ध्वनि निकलती है कि वार्ता कदाचित् औरंगजेब के राज्यकाल के बाद लिखी गई है।

(ग) दूसरा स्थल श्री गुसाई जी की सेवक गंगाबाई क्षत्राणी शीर्षक '५१ की वार्ता', में है। इस वार्ता में गंगाबाई के सम्बन्ध में लिखा है कि···

"और सोले सै अस्सी में जिनको जन्म हतो और सुत्रै सो छतीश वर्ष सूधी वे भूतलपर रही हती" यदि ये संख्याएँ विक्रमी संवत् मान ली जावें तो गंगाबाई का समय १५७१ ई० से १६७९ ई० तक पड़ता है। गंगाबाई का श्रीनाथ जी के साथ मेवाड़ जाने का उल्लेख श्री गोवर्धननाथ जी के 'प्रागट्य की वार्ता' शीर्षक ग्रन्थ में भी स्पष्ट शब्दों में दी हुई है। इस उल्लेख के शब्द निम्नलिखित हैं :

"मिति असाढ़ सुदी १५ शुक्ल सं० १७२६ के पिछली पहुर रात्रि श्री वल्लभु जी महाराज पयान सिद्ध कराए आए जाए। पीछे रथ हाँक चली नही। तब श्री गोस्वामी विनती है किए तब श्रीजी आज्ञा की जो गंगाबाई की गाड़ी में वैठाय के संग लै चलो। रथ के पीछे गाड़ी चली आवै।" इस तरह यह घटना इस प्रमाण के अनुसार भी १६६९ ई० में ही पड़ती है। गंगाबाई के सम्बन्ध में इस निश्चित उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ-कृत नहीं हो सकती।

(घ) दोनों वार्ताओं के व्याकरण के अनेक रूपों में बहुत अन्तर है, संक्षेप में कारक चिन्ह लीजिए—

८४ वार्ता	२५२ वार्ता
कर्म सम्प्रदान—को को।	कूं कुं।
करण अपादान—सों।	सूं सुं।

क्रियाओं के नीचे लिखे रूप भी ध्यान देने योग्य हैं—

वर्तमान	हौ हो है	ह हुँ हैं ।
भूत	हुतो हुते हुती ।	हतो हते हती ।
आज्ञा	करो देखी गावौ	करो देखो गायो ।

उदाहरण के लिए दोनों वार्ताओं में से कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

कूं	पृष्ठ ४७ जो तुम्हारो धर्म हम कूं सिखाओ	कों	पृष्ठ २५४ राजा नरसिंह जी गोवर्धन जी के दर्श को गिरिराज उपर आये।
कुं	१४४ तब सब वैष्णव श्यामदास कुं समझान लगे।	को	३९ तब श्री गोसाई जी कों दंडोत कीनी ।
सुं	३०० तब त्रिन को स्नेह सुं हृदय भर आयो	सों	३९ राजा सों मिल्यौ ।
हुं	४६ राजा की कृपा ते अबी आयो हुं	हों	४८ में तो विरक्त हों ।
है	७८ सो बहुत दिन भयो है।	हैं	१७३ ऐसे कृपामय भवदीय हैं ।
हतो	३०१ वैष्णव के ऊपर विश्वास बहुत हतो	हुतौ	२०१ सो एक साथ एक सेवक हुतौ ।
हते	४६ सो वे कृष्णभट्ट जी ऐसे कृपापात्र हते।	हुते	६९ सो नारायण ऐसे त्यागी हुते ।
हतो	११६ एक ब्राह्मण हतो	हुती	२०९ उनको आज्ञा दीनी हुती।
दिखाबो	३७८ अब तुममें स्वाँग पूरो कर दिखावो	करौ	२१५ सूरदास श्री गोकुल को दर्शन करौ ।
बरसो	३४९ हमारो डैरो छोड़ कै बरसो	गावौ	२१७ ताते तुम्हर कछू गावौ ।
लेओ	८२ मोकुँ शरण लेओ	बैठो	१६० तुम दोऊ स्त्री पुरुष स्नान करिकै आय बैठो ।

ऊपर दिए हुए ये कुछ रूप नियम हैं। अपवादस्वरूप एक वार्तावाले रूप दूसरी वार्ता में कहीं-कहीं मिल जाते हैं। एक ही व्यक्ति अपनी दो रचनाओं में व्याकरण के उन छोटे-छोटे रूपों में इस तरह का भेद नहीं कर सकता। कूं सूं इत्यादि रूप निश्चित रूप से बाद के हैं। जो प्राचीन भाषा में साधारणतया प्रयुक्त नहीं होते थे। मौलिक रूप से वृहद ग्रन्थ की रक्षा करना असम्भव है। नहीं तो यह कहा जा सकता था कि धीरे-धीरे मूल ग्रन्थ के मौलिक रूप में बाद को समस्त रूप से ऐसे व्याकरण सम्बन्धी परिवर्तन हो गए होंगे। ऊपर दिए कारणों से स्पष्ट

है कि 'दो सौ बावन वार्ता' गोकुलनाथ कृत नहीं है। 'चौरासी वार्ता' के अनुकरण में १७वीं शताब्दी के बाद किसी वैष्णव भक्त ने इसकी रचना की होगी।

जहाँ तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उठाए गए प्रश्नों का सम्बन्ध है जिसमें श्री धीरेन्द्र वर्मा का प्रश्न (क) भी आ जाता है, मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि यह गड़बड़ी केवल इस बात को मान लेने से ही हो गई है कि गोकुलनाथ जी के प्रवचनों को उनके भक्त लिपिबद्ध कर लिया करते थे। यह अस्वाभाविक नहीं है कि सम्पादन करते समय वे गोकुलनाथ जी का नाम आदरपूर्वक लेते रहे हों। इसी के साथ-साथ मैं डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के इस वाक्य "मौलिक रूप से वृहद् ग्रन्थ की रक्षा करना असम्भव है" पर भी अपना विचार प्रकट कर देना अनुचित नहीं समझता कि वह काल धार्मिक प्रचार का था। गोकुलनाथ जी पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध विद्वान् प्रचारक और बिट्ठल-नाथ जी द्वारा स्थापित सप्तगद्दियों में से चौथी गद्दी के स्वामी भी थे। उनका प्रभाव इतना व्यापक था कि उनके द्वारा कहे हुए वाक्य आप्तवचन माने जाते रहे होंगे। अतः उनके प्रवचनों का संग्रह कर सम्प्रदाय के सभी क्षेत्रों में प्रचार किया जाता रहा होगा। इसके लिए असम्भव नहीं कि गोकुलनाथ जी को कितने उपदेश और कितने प्रवचन करने पड़े होंगे। अतः उस काल की परिस्थिति पर पूरा ध्यान देने से ऐसे वृहद् ग्रन्थ की मौलिक रूप से उत्पत्ति तो बिलकुल ही असंभव नहीं लगती।

दूसरा आक्षेप उनकी वार्ता के काल के सम्बन्ध में है। गोकुलनाथ जी के प्रवचनों और वार्ताओं का संकलन-संपादन हरिराय जी तथा उनके शिष्यों द्वारा कालान्तर में भी होता रहा है। अतः लाडबाई तथा धारबाई (प्रश्न : ख) धीरेन्द्र वर्मा सम्बन्धी उद्धरण में मंदिर तुड़वाने की ऐतिहासिक घटना का उल्लेख सं० १६६९ कर के दिया गया है तथा स्मिथ की हिस्ट्री के अनुसार गोकुलनाथ जी का समय १५५१ से १६४७ तक माना गया है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि आचार्य महाप्रभु वल्लभ जी का जन्म १५३५ में हुआ था और गोकुलनाथ जी उनके प्रपौत्र थे और इनका जन्म १६०८ में हुआ था तो यह कैसे असंभव हो सकता है कि १६६९ में होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटना के समय में वे न रहे हों जब कि सं० १६९७ तक उनके जीवित रहने का प्रमाण प्राप्त है। यही बात डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के प्रश्न (ग) के विषय में भी कही जा सकती है।

जहाँ तक प्रश्न (घ) का सम्बन्ध है निश्चय ही यह एक ही व्यक्ति द्वारा

दो ग्रन्थों का सम्पादन नहीं माना जा सकता। संभव है उनके दो शिष्यों ने अलग-अलग ढंग से ग्रन्थ का संपादन किया हो और यह भी संभव है कि वे दो स्थान के रहे हों। व्याकरण का कोई प्रश्न उस ब्रजभाषा के अनिश्चित काल में था, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। वर्मा जी का ध्यान संभवतः इस बात की ओर नहीं गया कि तत्कालीन ब्रजभाषा एक बोली थी जो धीरे-धीरे साहित्य के पद पर आरूढ़ हो रही थी। उसका कोई वैयाकरण उस समय नहीं हुआ था न कोई नियम ही निश्चित हुए थे। अतः व्याकरण के थोड़े से हेरफेर को हम ग्रन्थ की अप्रामाणिकता का कारण नहीं मान सकते। वर्तमान काल में भी लोक-भाषा का एक रूप ऐसा है जो खड़ी बोली से क्रियाओं, उसकी शब्दावलियों, उसके कारकों, आदि को ग्रहण करते हुए भी न पूर्णतया खड़ी बोली है न लोक-भाषा। अर्द्धशहराती भाषा जिसे कह सकते हैं। संभव है धर्म के प्रचार के लिए जिस प्रकार सर्वसम्पन्न संस्कृत भाषा को छोड़ कर भगवान् बुद्ध ने पाली का आश्रय लिया था उसी प्रकार पुष्टि मार्गी साधुओं ने भी धार्मिक प्रचार के लिए साहित्यिक ब्रजभाषा की तनिक उपेक्षा कर ही दी तो क्या हुआ?

गोकुलनाथ जी के ग्रन्थ

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' इनके मौखिक ग्रन्थ हैं। 'श्री गुसाईं जी और दामोदरदास जी का संवाद', 'श्री गुसाईं जी की वनयात्रा', चतुर्भुज दास कथित 'षट्ऋतु की वार्ता', 'नित्यसेवा प्रकार', '८४ बैठक चरित्र', '२८ बैठक चरित्र', 'घरूँ वार्ता', 'उत्सव भावना', 'रहस्य भावना', 'चरण-चिन्ह भावना', 'भाव सिन्धु' तथा 'भावना वचनामृत' आदि अनेक वार्ताएँ गोकुलनाथ-कृत प्रसिद्ध हैं, जिनमें कहीं-कहीं पर उनके लेखन का समय, स्थान प्रसंग और दिनांक का भी उल्लेख मिलता है, जो तत्कालीन इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। 'वनयात्रा', 'पुष्टिमार्ग के बचनामृत', (तिथिकाल सं० १९२५), 'रहस्य भावना', 'सर्वोत्तम स्तोत्र', 'सिद्धान्त-रहस्य' और 'वल्लभाष्टक' ये सभी ग्रन्थ गद्य में हैं। और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त तथा उसकी भक्ति का वर्णन है।

अब गोकुलनाथ जी की चौरासी वैष्णव की भाषा का उदाहरण देखिए:

"बहुर श्री आचार्य जी महाप्रभुन ने श्री ठाकुर जी के पास भट्ट माग्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदरदास सो कछू गोपा न रखते और श्री आचार्य जी महाप्रभु श्री भागवत अहर्निस देखत कथा कहते और मार्ग की सिद्धान्त भगवत लीला रहस्य श्री आचार्य जी महाप्रभु आप दामोदरदास के हृदय में स्थापन कीयो।"

इनके एक वचनामृत में गोस्वामी तुलसीदास जी का ब्रजभाषा में वर्णन मिलता है यथा—

"सो तुलसीदास श्री गोकुल आए हते। सो ता दिन रघुनाथ जी महाराज को विवाह हतो। सो ठौर-ठौर आनन्द होय रह्यौ हतो। तब तुलसीदास ने पूछी जो कहाँ के ठौर-ठौर आनन्द होसत है तब कोई ब्रजवासी ने कह्यो जाने नाही जो रघुनाथ जी को विवाह है। तब तुलसीदास ने कही जो कौन सों विवाह है श्री रघुनाथ जी को तब ब्रजवासी ने कही श्री जानकी जी सों विवाह है। सो तुलसीदास श्री रघुनाथजी और श्री जानकी को नाम सुनत ही विह्वल हो गए। श्री गोकुलनाथ सं० १६०८ से १६९७।"

गोकुलनाथ जी की भाषा अत्यन्त व्यवस्थित और चलती है। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता की भाषा भी जनता की बोलचाल की भाषा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में :

"जो हो इन पुस्तकों की भाषा बहुत व्यवस्थित है और यद्यपि उसमें लम्बे विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यों से चरित नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ है मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रंगों के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो।"[1]

गोकुलनाथ जी के वचनामृतों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि उसकी लिपि और प्रतिलिपि का क्रम सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया और वैष्णव जनों में उनके आधार पर कथा-वार्ताएँ होने लगीं। इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य का सर्वत्र प्रचार हो गया। पुष्टि सम्प्रदाय से इतर वैष्णव सम्प्रदायों में भी ब्रजभाषा गद्य की रचनाएँ होने लगीं।

गंगा भाट (१६२९)

नामक एक व्यक्ति लिखित 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक ग्रन्थ का उल्लेख पं० रामनरेश त्रिपाठी[2] ने किया है। इनका काल संवत १६२९ था। इनके गद्य में ब्रजभाषा से पनपती हुई खड़ी बोली का रूप परिलक्षित किया जा सकता है। यथा :

"इतना सुनके पातसाहिजो श्री अकबर साहजी आध सेर सोना नरहरदास

---

१. हिन्दी-साहित्य उसका उद्भव और विकास—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ३६४।

२. हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २७, श्री रामनरेश त्रिपाठी।

चारन को दिया । इनके डेढ़ सेर सोना हो गया । रास बाँचना पूरन भया । आम खास बरखास हुआ ।"

हरिराय जी—(१६४७-१७२३)

आप विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र गोविन्दराय जी के पौत्र और कल्याणराय जी के पुत्र थे। भादों के कृष्णपक्ष में (सं० १६४७) में आपका जन्म हुआ था। आरम्भ से ही गोकुलनाथ जी के साथ रहने के कारण साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ तो हुए ही साथ ही साथ उसके रहस्य का उद्घाटन करनेवाले भी हुए। संस्कृत, गुजराती और व्रजभाषा में उनका समान अधिकार था। उन्होंने तीनों ही भाषाओं में गद्य तथा पद्य की रचना की है। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य, वार्ता साहित्य का संकलन और सम्पादन है। व्रजभाषा गद्य के लिए हरिराय जी का कार्य जितना ठोस और महत्त्वपूर्ण हुआ, हिन्दी के साहित्यकारों तथा इतिहास-लेखकों द्वारा उनकी उतनी ही उपेक्षा हुई है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास ने तो अपने इतिहास ग्रन्थों में इनका नामोल्लेख तक नहीं किया है। रसाल, मिश्र-बन्धु तथा डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अधूरी सूचना के साथ उनका वर्णन किया है।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट में इनके ग्रन्थों का उल्लेख है:—श्री आचार्य महाप्रभून की द्वादस निजवार्ता, श्री आचार्य महाप्रभून के सेवक चौरासी वैष्णवन की वार्ता, श्री आचार्य महाप्रभून की निज वार्ता और घरूँ वार्ता।

मिश्र-बन्धुओं ने इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों के भी नाम गिनाए हैं। यथा 'ढोला मारू की वार्ता'; 'भगवती के लक्षण'; 'द्विद्वलात्मक स्वरूप विचार'; 'गद्यार्थ भाषा'; 'गोसाईं जी के स्वरूप के चिन्तन का भाव'; 'कृष्णावतार स्वरूप निर्णय'; 'सातों स्वरूप की भावना'; 'बल्लभाचार्य जी के स्वरूप को चिन्तन'; 'भाव वरसोत्सव'; 'यमुना जी के नाम'। सभा की सन् १९३२, ३३ तथा १९३४ की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्टों के अनुसार इनके द्वारा लिखित कुछ और ग्रन्थों का पता चला है जिनके नाम ये हैं—

श्री कृष्ण प्रेमामृत, पुष्टि दृढ़ावन की वार्ता, पुष्टि प्रवाह मर्यादा, सेवा-विधि वर्षोत्सव की भावना; तथा भाव भावना।

प्रभु दयाल मीतल ने इनके अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है[1] जैसे :

द्वादस निकुंज की भावना, सात स्वरूपन की भावना; महाप्रभु जी को

---

१. सूरदास की वार्ता—पृष्ठ ७९ ; प्रभुदयाल मीतल।

प्रागट्य वार्ता भावना वाली; निजवार्ता भावना; घरूँ वार्ता भावना; वसन्तहारी की भावना; छप्पन भोग की भावना; छाक-बीड़ी की भावना; सेवा भावना; नित्य लीला भावना; वनयात्रा की भावना; श्रीनाथद्वारे जी की भावना; सात बालकन के स्वरूप की भावना, तथा स्वामिनी चरण चिह्न आदि।

हरिराय जी कृत इतने ग्रन्थों की लम्बी-चौड़ी तालिका से ही ज्ञात होता है कि इन्होंने ब्रजभाषा-गद्य की उन्नति और प्रचार के लिए कितना ठोस प्रयत्न किया था। अब इनकी भाषा का उदाहरण 'आचार्य महाप्रभुन के सेवक चौरासी वैष्णवों की वार्ता से' देखिये :

"और जो गोसाईं जी कही जो कृष्णदास ने तीन वस्तु अच्छी कीनी। जो एक ने श्रीनाथ जी को अधिकार कीयो सो ऐसो कियो जो कोई दूसरो कोई न करैगो। और दूसरे कीर्तन कीए सो अति अद्भुत कीए और तीसरे श्री आचार्य जी महाप्रभुन के सेवक होय के संवरहु ऐसो कीए जो कोई न करैगो।

"सो ताते श्री आचार्य जी महाप्रभून के असे कृपा पात्र भवदीय हते। सो ताते इनकी वार्ता का पार नहीं सो ताते इनकी वार्ता अनिर्वचनीय है। इनकी ऐसी-ऐसी कितनी वार्ता है। सो ताते इनकी वार्ता कहाँ ताईं लिखिए।"

'भाव भावना' से भी एक उदाहरण देखिए—

"सो पुष्टि मार्ग में जितनी क्रिया है सो सब स्वामिनी जी भाव ते हैं। ताते मंगलाचरण गावे। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण कमल को नमस्कार करते हैं जिनकी उपमा दैवे को मन दसो दिसा दौर्‍यो परन्तु कहूँ पायौ नही।"

उनकी भाषा में यद्यपि गोकुलनाथ जी की तरह चलतापन नहीं है पर इसमें ब्रजभाषा का अपनापन बहुत अधिक है। अब उनके निरूपणात्मक गद्य का भी एक उदाहरण उपस्थित करता हूँ :

"या वार्ता में यह सिद्धान्त भयौ जो अहंकार गर्व होइ तहाँ ताईं श्री ठाकुर जी अनुभव न जतावे और अपने भक्तन को अहंकार आपु ही कृपा करि के दंड देई छुड़ावत है। और वैष्णव सो कबइ हीन कार्य होइ नहीं और कदाचित भगवदीय सो खोटो काम कछू भयौ होई तो मन में दोष बुद्धि न करनो। भगवदीय ऐसौ करै नाहीं। वामै भगवत्कृति जाननी और जीव मात्र उपर दया राखनी। चोर होई चुगल होई ताईं को अपने बस ते बचावनो रक्षा करनी। यह वैष्णव कौ धर्म है।"

कैसी परिष्कृत, पुष्ट और व्यवस्थित गद्य शैली है। भावों के लिए शब्द जैसे गढ़े-गढ़ाए मिलते जाते हैं और लेखक की प्रतिभा-प्रगल्लभ-बुद्धि अपने आप उनको यथास्थान टाँकती चलती है। यह हरिराय जी के उत्तर काल की रचना

है। इन्होंने सं० १६७० से सं० १७७२ तक साहित्य की महान सेवा की। गोकुलनाथ जी द्वारा कथित मौखिक वार्ताओं आदि का सम्पादन और प्रचार ही उन्होंने नहीं किया, वरन् उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था गोकुलनाथ जी कथित वार्ताओं के प्रसंगों की पूर्ति और उन पर अपनी भावनात्मक टिप्पणी लगाना। यहाँ एक बात जो मेरे मन में समायी हुई है कह देना चाहता हूँ कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा को जो ८४ तथा २५२ वार्ताओं का औरंगजेब-कालीन होने का सन्देह हुआ था उसका निवारण इस बात से हो जाना चाहिए कि हरिराय जी ही उन समस्त वार्ताओं के सम्पादक तथा संकलनकर्ता थे और उन्होंने सौ वर्ष से अधिक जीवित रहकर ब्रजभाषा गद्य की सेवा की। इनका आरंभिक जीवन गोकुल में ही व्यतीत हुआ था पर औरंगजेब के उपद्रव के कारण जब पुष्टि सम्प्रदाय के सेवा-स्वरूप जतीपुरा और गोकुल से हटा कर हिन्दू राजाओं के राज्यों में ले जाए गए तब ये भी श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ नाथद्वारा चले गए थे।

ये प्रगल्भ प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। इन्होंने ब्रजभाषा की सर्वांगिण उन्नति की। वास्तव में हरिराय जी के युग को ही ब्रजभाषा गद्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं। पर कितने खेद की बात है कि ऐसे महान साहित्यकार की उपेक्षा प्रायः सभी विद्वानों ने की है। इनको प्रकाश में लाने का कार्य यद्यपि मिश्र-बन्धुओं ने किया, किन्तु इनकी महानता से परिचित कराने का श्रेय प्रभु-दयाल जी मीतल को ही दिया जा सकता है। हरिराय जी के पूर्ण परिचय द्वारा ८४ तथा २५२ वार्ताओं के विषय में उठने वाले सम्पूर्ण विवादों का प्रायः समाधान मिल जाता है।

नाभादास जी (१६५७)

आप एक बड़े सन्त और रामानुयायी महात्मा हो गए थे। वास्तव में इनकी प्रसिद्धि साहित्य के अत्यन्त उपयोगी तथा प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ भक्तमाल के लिए है किन्तु इनकी अष्टयाम नामक एक ब्रजभाषा गद्य की रचना भी प्राप्त हुई है जिसमें श्रीरामचन्द्र जी की दिनचर्या का वर्णन है। इसकी भाषा इस प्रकार है :

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुई प्रनाम करते भए। फिर उपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिके श्री महेन्द्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठत भए।"

इस भाषा में संस्कृत का पुट वृद्ध समाज आदि शब्दों से ज्ञात होता है।

सं० १६६२ का एक ताम्रपत्र

चौरासी वैष्णवन की वार्ता का सम्पादन श्री द्वारिकादास पारीख ने किया है। ग्रंथ-परिचय में उन्होंने सं० १६६२ के मार्गशीर्ष कृष्ण ११ सोमवार को लिखे हुए एक ताम्रपत्र का उल्लेख किया है। यह ताम्रपत्र काशी के सेठ गोकुलदास जी के यहाँ पर अब तक सुरक्षित है। इस ताम्रपत्र की भाषा से तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य का परिचय हो सकता है। उदाहरणार्थ :

"निज सेवक जादो जी व्यास ब्राह्मण हीसावाल को नाम सुनामने की आज्ञा दीनी। वाराणसी प्रभृति के वैष्णवन को नाम सुनाये। ठाकुर जी की सेवा और पादुका जी इनके माथे पधराए। श्री श्री संवत १६६२ मिती मार्ग शीर्ष कृष्ण ११ सौम्यवासरे। श्री।"

गोस्वामी तुलसीदास का पत्र (१६६९)

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपने हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास में पृष्ठ २७ पर श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के एक पत्र का उल्लेख किया है। उन्हें यह पत्र कहाँ से मिला इसका कोई जिक्र नहीं है। पत्र इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का है कि इसकी प्रामाणिकता के विषय में तर्क-पूर्ण प्रस्तावना ही अपेक्षित थी। फिर भी इसकी भाषा का रूप यों है :

"संवत् १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी वार शुभ दीनै लिखीतं पत्र अवन्दरम तथा कन्हई के अंस विभाग पूर्वसु जै अएया पुनहुजनै माण जै आ गया मेरो प्रमान माना।"

बनारसीदास (१६६८)

नागरी प्रचारिणी पत्रिका की प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज २००३, में वैष्णव के अन्तर्गत बनारसीदास जी जैन की 'बचनिका की अनुगति' बिना नाम के ब्रजभाषा के गद्य ग्रन्थ की उपलब्धि हुई है। आप आगरा के रहने वाले थे और सं० १६७० में जीवित थे। उनका एक अलंकार ग्रन्थ 'बनारसी विलास' के नाम से भी है। जिसकी भाषा गद्य-पद्यमय शैली में है। इनकी बचनिका की भाषा परिमार्जित है और उसमें विरामों का उचित स्थान पर प्रयोग हुआ है। उनकी बचनिका की भाषा देखिये :

"एक जीव द्रव्य ताकूं अनंत गुन अनंत पर्याय जीव पिंड की अवस्था माहिं भाँति। अनन्त जीव द्रव्य सपिहुँ कम जाननै। एक जीव द्रव्य अनन्त पुद्गल द्रव्य करि संयोजित माननै। ताको व्यौरो अन्य-अन्य रूप जीव द्रव्य ताकि पर-

नति अन्य-अन्य रूप पुद्गल की परनति। ताको व्यौरो। एक जीव द्रव्य जा भाँति की अवस्था लिए नानाकार रूप परिन में सो भाँति जीव सो मिलै नहीं।[1]

अब बनारसी विलास की भाषा देखिए :

"सम्यगदृष्टी कहा सो सुनी। संशय विमोह विभ्रम ये तीन भाव जामै नाहीं सो सम्यगदृष्टी। संशय विमोह विभ्रम कहा ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुन।"[2]

इसमें संस्कृत की प्रश्नोत्तरी शैली का आभास परिलक्षित होता है।

जटमल (१६८०)

जटमल के गोरा बादल की कथा नामक ग्रन्थ का उल्लेख हस्तलिखित प्रतियों की वार्षिक खोज[3] में पृष्ठ संख्या ४५ तथा रिपोर्ट संख्या ४८ में मिलता है। इसकी भाषा में गद्य तथा पद्य मिला हुआ है। इसके भाषा की विशेषता यही है कि अत्यन्त प्राचीन काल की होते हुए भी खड़ी बोली के रूप से संयुक्त दिखाई पड़ती है; देखिए :

"गोरे की आवरत आवै सो वचन सुन कर आपने पांवद की पागडी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सीवपुर में जाकै वाहा दोनों मैले हवे १४४। गोरा बादल की कथा गुरा के वस सरस्वती के महरवानगी से पुरन भई तीस वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हूँ १४५।"

आवरत, पांवद, तथा मेहरवानी, आदि शब्दों के कारण व्रजभाषा में फारसी शब्दों का व्यवहार सर्व प्रथम जटमल की रचना में ही पाया जाता है। जन-बोली का विकास-क्रम समझने में यह भाषा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

सुखदेव सिंह मिश्र (१७००)

इनका उल्लेख भी बाबू श्यामसुन्दरदास ने वार्षिक हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज में किया है। ये अमेठी के राजा हिम्मत सिंह के आश्रित थे। इन्होंने अलंकार और छन्द पर पिंगल नाम का एक ग्रन्थ लिखा जो ४४ पत्र तक है। बाद के पत्रों पर पिंगल के विषय के कई यंत्र बने हैं। इसमें केवल ४९ पृष्ठ हैं जिससे पुस्तक अपूर्ण प्रतीत होती है। इसकी भाषा इस प्रकार है :

"जबर अरि जेर करि समसेर बहादुर वैखिर वारण विदारण सिंह। समत्थ

१. श्री हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता—प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ ७६।
२. अनुशीलन, पृष्ठ १६५—शिवनाथ एम. ए.।
३. हस्तलिखित प्रति संख्या ५८६, ३६।

हत्थ अथत्थ बल। हत्थ समान महावीर। समरवीर धरणि धुरंधर। धराधीश धवल धाम। धनल सुजस पुंज विजित सुर धुनी धार धगलैक श्री महाराजाधिराज हिम्मत सिंह चिरंजीव। इति गद्य।"

इस भाषा पर 'समत्थ', 'हत्थ', आदि शब्दों से लगता है कि राजस्थानी प्रभाव है। शैली में क्रिया-विहीनता का आभास परिलक्ष्य है।

अज्ञात (१७००)

शंकराचार्य विरचित 'काशी नागरी प्रचारणी सभा' में नाना पोथियाँ हैं जिन्हें देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इसमें एक ही जिल्द के अन्तर्गत चार पुस्तकें हैं :

१. तत्व विवेक १ पत्र ६ से १० तक यह पूर्ण है। देखने में यह पत्रा के आकार की है। इसमें न तो लिपिकार का नाम है न लिपिकाल ही। प्रति को देखने से करीब १७वीं शताब्दी में लिखित होने का अनुमान किया जा सकता है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म जिज्ञासा है। उपनिषद वेदान्त नाम अंत में दिया है। दूसरी प्रति भी प्राप्य है। हस्तलिखित प्रति संख्या नागरी प्रचारिणी सभा काशी में ५३२-३६ है। लगता है कि यह शंकराचार्य कृत ग्रन्थ का अनुवाद है। जिसमें अनुवादकों ने इसको अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करने के लिए अपना नाम छिपा लिया है। इसकी भाषा अस्पष्ट तथा लद्धड़ है। क्रियापदों का लोप अनेक स्थानों पर पाया जाता है।

"माया की सक्ति तौन संसय मिथ्या विद्रीय भामा का नाम पंत्र भामा कहिये इत्यादि।"

२. गोरख गणेश संवाद।

यह प्रति पूर्ण है। लम्बाई तथा चौड़ाई वही है। हाथ की लिखावट भी वही है किन्तु स्याही गाढ़ी हो जाने से और कलम मोटी हो जाने से कहीं-कहीं मिथ्याभास होने लगता है। गणेश पूछे और गोरख कहे के ढंग पर यह पुस्तक है। १० से १३ पृष्ठ तक यह पूर्ण है। भाषा में सधुक्कड़ी मस्ती के दर्शन होते हैं, जैसे :

"तुम्ह कौन जोगी हम निरंजन जोगी। असित गुरुण चेला स्वामी से ज्यौं जानीए रहति जानिये। सबद प्रमानिये।"

३. पंच संस्कार।

पत्र १३-१४। इसके नाम के आगे बहुत अशुद्ध लिखा है। इसकी भाषा संस्कृत है।

४. प्रश्नोत्तरी

इसमें पत्र १४ से २१ तक है, केवल १७वाँ नहीं है। इसकी भाषा का उदाहरण देखिए :

"माया की प्रेरक सर्वज्ञ सर्व सक्ति सर्व कर्म फल-दाता ज्ञानादिक है कै जीवन कु सुसास छुटावै सो ईश्वर कहिये।"

लगता है यह प्रति भी अपूर्ण है।

इन सब ग्रन्थों को शंकराचार्य विरचित कहा गया है किन्तु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। जहाँ तक इनकी भाषा का प्रश्न है इनमें १, २ तथा ४ में क्रमशः राजस्थानी प्रभाव है, केवल संख्या ३ प्रश्नोत्तरी की भाषा संस्कृत है। शेष की भाषा व्रजभाषा के अत्यन्त निकट की भाषा प्रतीत होती है।

काका वल्लभ जी (१७०३)

आपके '५२ बचनामृत' की बड़ी प्रसिद्धि है। वे प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनका समय १७०३ से १७८० तक रखा जा सकता है। '५२ बचनामृतों' की भाषा भी व्रजभाषा गद्य ही है।

गोविन्ददास ब्राह्मण (१६६०)

काँकरौली के 'सरस्वती भंडार' में श्री प्रभुदयाल मीतल को गोविन्ददास ब्राह्मण की एक वार्ता पुस्तक मिली है। लगता है गोकुलनाथ जी के चलाए हुए वार्ता-क्रमों की परम्परा से ही प्रभावित यह पुस्तक है। इसका लिपि-काल १७४६ है पर इसी के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि गोविन्ददास ब्राह्मण गोकुलनाथ का समकालीन रहा। गोकुलनाथ जी का मृत्यु-समय १६९७ था अतः यह उसी के आसपास की रचना रही होगी। इसके व्रजभाषा गद्य का नमूना देखिए :

"यों करत बहुत दिन बीते तब नेत्र को प्रकार भयो, तब श्री राय जू तो कही जो पोथी पेटी में है सो लावो। तब श्री राय जू ने पेटी खोलि के पोथी हाथ में दीनी। लेकर नेत्र सो लगाई। बेरि राय जू को दीनी। राय जू ने पेटी में धरी। सो नित्य यों करे। सो एक दिवस राय जू ने देखी सो नीकी लागी। तब इनके प्रिय श्री गोपाल जू हते सो बात राय जू ने कही हमारे वैष्णवन की बात है। तब गोपाल जू ने कही जो देखिए। तब इन नाही कही। वह देखी न जाय अनम जी बहुत जतन करि राखत है। तारे में है ईमो पास मागत है तब आनि देत हूँ।"

भाषा कितनी साफ-सुथरी तथा एकरस है। गोकुलनाथ जी द्वारा वार्ताओं के क्रम की यह एक कड़ी है और निखरकर सामने आई है।

जयगोविन्द वाजपेयी (१७१६-१७६५)

ब्रजभाषा-गद्य में बहुत-सी अलंकार सम्बन्धिनी रचनाएँ भी हुई हैं। श्री जयगोविन्द वाजपेयी का कवि सर्वस्व इसी प्रकार की रचना है।

सेवक जी (१७२८–१७८० के बीच में)

आप हरिराय जी के समकालीन थे। इनका कोई ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है किन्तु वसंतराम शास्त्री अहमदाबाद वाले के पास इनका एक पत्र अब भी सुरक्षित है, जिससे तत्कालीन भाषा का ज्ञान हो जाएगा। यथा :

"तुम्हारो पत्र खोपिया कासिद के हाथ समधियाने ते आयो है सो हम तुम पास पठयो है। जैसो जाने तैसो उत्तर लिखियो। हम चारो पत्रहु तुमको पठया दे चाहे तो तुम्हारो विचार होइ सो करियो। मथुरानाथ भाई के संग ठाकुर पास है। ठाकुर राणा के देश में तलाव के पास है। राणा दूसरा गाँव देन कह्यो है नया तहा बैठेंगे आजहू बैठे नाही किमधिकं।"

इस पत्र की भाषा भी कितनी मँजी और स्वस्थ-सी है। लगता है हरिराय जी के समय तक की ब्रजभाषा काफी प्रौढ़ हो चली थी।

ब्रजभूषण जी (१७२९)

सं० १७२९ के लगभग तक ब्रजभूषण जी द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों का पता चलता है। नित्य विनोद, नीति-विनोद, श्री महाप्रभु जी तथा गुसाईं जी का चरित्र, श्री द्वारिकाधीश जी की प्राकट्य वार्ता आदि।

श्री द्वारकेश जी भावना वाले (१८७५ के आस-पास)

उन्होंने अनेक भावना के ग्रन्थों का निर्माण किया है। श्रीनाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना, धनुमणि भावना, उत्सुक भावना, भाव भावना, भाव संग्रह आदि। इनकी भाषा का नमूना देखिये :

"तुलसीदास श्री गोकुल में आए तब श्री गुसाईं जी तो कहै सीता जी सहित श्री रामचन्द्र जी के दर्शन होय यह कृपा करो। तब ही रघुनाथ जी को ब्याह भयो हतो। सो जानकी बहू जी पास ठाड़े हते। तब आप आज्ञा दिये जो तुलसीदास को दर्शन दऊ। तब श्री रघुनाथ जी जानकी बहू जी वैसो ही दर्शन दिये।"

बेनी कवि (१७९२)

अवध के राजा के एक मंत्री राजा टिकैता राय के यहाँ आप रहते थे। ये प्रसिद्ध भड़ौवाकार (सटायरिस्ट) बेनी कवि से भिन्न हैं। उन्होंने अलंकार पर ब्रजभाषा-गद्य में १७९२ के लगभग 'टिकैता राय प्रकास' नामक ग्रन्थ

लिखा। प्रति देखने में नई लगती है। इसका लिपि-काल १९४५ है। निर्माण-काल के विषय में स्वयं इन्हीं का कहना है :

'रंध्र वेद पसु चन्द्र युत संवत् सरको पाय माधव पही रची अलंकार गुरू ध्यान।'[१]

उनकी भाषा का रूप यों है :

"यहाँ प्रस्तुत टिकैता राय अप्रस्तुत नैनादिक को शोभायमान है वो एक धमन्यिम है। प्रस्तुत विषय जो समान धर्म सो प्रसंग बसते ओर ठोरह उपकारक है। जैसे महल अर्थ धरो जो दीप है सो गली में प्रकास करे। मिती अगहन बदी ८ मंगल सं० १९४५ शुभ मते।"

इनकी भाषा संस्कृतमयी है तथा विषय के स्पष्टीकरण के योग्य है।

छत्तीसगढ़ के सुदूर दक्षिण प्रांत बस्तर स्टेट के दंतेवाडा नामक स्थान पर छत्तीसगढ़ी भाषा का सबसे प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुआ है। यद्यपि यह संदिग्ध ही है कि प्राचीनकाल में वह स्थान कभी छत्तीसगढ़ में गिना जाता था या नहीं। किन्तु इतना निश्चित है कि यह लेख किसी उत्तर से आनेवाले के द्वारा ही खुदवाया गया है। इसे संवत १७०३ की प्रचलित भाषा का नमूना कह सकते हैं। यथा :

"दंतावली देवी जयति। देववाणी यह प्रशस्ति लिखाए पाथर है महाराज दिकपाल देव के कलयुग यह संस्कृत के बचवैया थोरही है ते पाइ.दूसर पाथर मँह भाषा लिखे हैं......तै दिकपाल देव बिआह कीन्हे वरदी के चंदेल राव रतनराजा के कन्या अजब कुमारि विषै अठारहे वर्ष रक्षपाल देवनाम जुवराज पुत्र भए। तब हल्लाते नवरंगपुर गढ़ टोरि कारि सकल बन्द करि जगन्नाथ वस्तर पठै कै ओडिया राजा धाये र बाजे।.....पुनि सकल पुरवासि लोग समेत दंतावला के कुटुम जाता करे सम्वत सत्रह से साठि १७६० चैत्र सुदी १४ आरम्भ वैषाख वदि तै संपूर्न में जात्रा कतेकौ हजार पैसा बोकरा मारे तै कर रकत प्रवाह वह पाँच दिन नदी लाल कुसुम वर्न भए। ई अर्ध मैथिल भगवान् मित्र राजगुरु पंडित भाषा औ संस्कृत दोउ पाथर यह लिषाए। अस राजा को दिकपालदेव समान कलियुग न हो है आन राजा।[१]"

इसमें बहुत से शब्द और मुहाविरे जायसी और रामायण से मिलते हैं। परवर्ती हिन्दी होने के कारण तत्कालीन प्रचलित ब्रजभाषा के प्रभाव से भी यह मुक्त नहीं हो पाई है।

---

१. ए ग्रामर आव द छत्तीसगढ़ी डाइलेक्ट आव ईस्टर्न हिन्दी—हीरालाल काव्योपाध्याय, ट्रांसलेटेड बाई ग्रियर्सन।

अज्ञात (१७९७)

संवत १७९७ वि० से लिपिबद्ध ब्रजभाषा गद्य की दो हस्तलिखित पुस्तकों का पता चला है जिसमें से एक तो अनुवाद है जिसके अनुवादकर्ता देवीचन्द नामक व्यक्ति थे। दूसरी पुस्तक कृष्णजी की लीला है जिसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसकी भाषा देखिये :

"श्री राधा जी मैं आई अपनी मटकिया सिर पर धरि उस सब सखियाँन सहित घर चली। तब पौड़ा बीच मुषरा मिली। तब मुषरा सहेली समेत श्री राधा जी के ब्राह्म गहिं कै घर कू ले चली। इहा आनि नीको भोजन करायौ।"

इसकी भाषा सामान्य है।

ललितकिशोरी और ललितमोहिनी (१८००)

ये निम्बार्क सम्प्रदाय, की टट्टी के गुरु शिष्य हो गए थे। इनका काल लगभग १८०० था। इन्होंने सैंतालिस पृष्ठों की ब्रजभाषा-गद्य में एक रचना प्रस्तुत की जिसका नाम 'श्री स्वामी जी महाराज को वचनिका' है। इसकी भाषा इस प्रकार है :

"वस्तु को दृष्टान्त मलयागिरि को समस्त वन वाको पवन सो चन्दन है जाय। वाके कछू इच्छा नाहीं। बाँस और अरंड सुगन्ध न होय। सत्संग कुवस्तु को असर न करे।"

अज्ञात (१८२०)

ब्रजभाषा-गद्य की विषय-विविधता को सूचित करने वाला एक 'मुगल बादशाहों का संक्षिप्त इतिहास' की रचना का पता चला है जो ब्रजभाषा-गद्य में है। इसके चालीस पृष्ठ हैं। इसकी भाषा का उदाहरण देखिए :

"राजा मानसिंह उडीसा सूबा में पातस्याह को सिकी बुतबो चलायो। वहाँ के पठाणन कि पैसकस हजूरी ल्याये। कंधार को पातस्याह की फौज सु भाँजि हुजूरि आयो पैज हजारी भयो मुलतान के सूबा जागीर में पायो। पातस्याही फौज जाय कंधार लीनी।"

रामहरि सं० (१८२४)

'विदग्ध-माधव', संस्कृत नाटक के आधार पर एक ब्रजभाषा-गद्य में रचना हुई उसके रचयिता थे 'रूपगोस्वामी', और इसकी रचना की श्री रामहरि ने। इसकी भाषा का नमूना यह है :

"श्री वृन्दावन नित्य विहार जानि के उजीन नगरी को बास छाडि कर संदीपन रिसीवर की माता ताको नाम पुर्णमासी कहावे तिन इहा आइ वृन्दावन वास कियो अरू पोतो एक ले आई ता पोतो कौ नाम मधुमंगल कहावे सो मधुमंगल

ग्वालन में गाई चरावे श्री कृष्ण को बार-बार हँसावे विनोद करे ताते अति प्रिय लागे।"

वैष्णवदास

कृत 'भक्तमाल प्रसंग' नामक गद्य-पद्यमय ग्रन्थ का लिपिकाल १८२९ है। इसमें भक्तों के चरित का उल्लेख है।

मीनराज प्रधान

विक्रम की अठारहवीं शती के अंतिम चरण के आस-पास ही मीनराज प्रधान ने 'हरतालिका की कथा' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसकी भाषा का उदाहरण लीजिए :

"श्री गणेशाय नमः अथ हरतालिका कथा लिष्यते। कैसो है यह व्रतु जा व्रत के करे ते अस्त्री भागवती होती है। सुभय व्रत महादेव के गन इन्द्रनी आदि दे ते रहत है। सुकथा कहत है। एक समये विषै श्री महादेव जू अरू श्री पार्वती जू कैलाश पर्वत पर वैठे हते। अरू मंदार की माला श्री पार्वती जू पहिरे हती।"

यह सामान्य बोलचाल की और ब्रजभाषा के ह्रासोन्मुखी काल की भाषा प्रतीत होती है।

राजा यशवन्त सिंह

आप जोधपुर के राजा थे और विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के मध्य में आपने 'सिद्धान्त बोध' नामक एक ग्रंथ की रचना की जिसमें ब्रह्मज्ञान पर विचार किया गया है।

अज्ञात

हस्तलिखित हिन्दी प्रतियों की वार्षिक खोज रिपोर्ट[1] के अनुसार एक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ का पता चलता है जिसके कर्ता का नाम नहीं दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'बाजनामा व दौलतनामा' है। पुस्तक में लिखा है कि फीरोज शाह ने हकीमों से कहा कि एक जानवरों की पहिचान व इलाज मुकर्रर करो और तव इस पुस्तक की उत्पत्ति हुई। अब प्रश्न यह उठता है कि किस फीरोज शाह ने ऐसा कहा, क्योंकि भारतीय इतिहास में तीन फीरोज शाह नाम के बादशाह हो चुके हैं, जिनका सम्बन्ध दिल्ली के राजवंश से रहा है। पहले-पहल १२८२ से १२९६ तक खिलजी वंश का। दूसरा १३५१ से १३९० तक तुगलक वंश का। तथा तीसरा मुगल वंश के बादशाह बहादुर शाह द्वितीय का

१. एनुअल रिपोर्ट आन द सर्च फार हिन्दी मैन्स्क्रप्ट्स फार द इयर १९०३—वाई श्यामसुन्दरदास, पेज ४९, रिपोर्ट नं० ६९।

पुत्र फीरोज शाह था। प्रथम दोनों फीरोज शाह के समय में ब्रजभाषा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि वह अपभ्रंश का परवर्ती काल था। यदि यही फीरोज शाह था तो इसका काल संभवतः १८५० माना जा सकता है। यह पुस्तक गद्य में है और खोज के समय काशी नरेश के पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। देखने से यह अति प्राचीन लगती है तथा इसकी लिपि भी कैथी है। इसकी भाषा में उर्दू मिश्रित खड़ी बोली का रूप परिलक्षित किया जा सकता है; यथा :

"विसमिल्लाहि रहमान निर्रहीम। बहुत तारीफ खुदाइत आला की के पीछे। जो पैदा करने वाला है और दिन का जिसने इशारतं कुन कैकुन की सै हजद अजारआलन और आसमान बे सितून पैदा कीया। जमी को बैल पर रखा। बैल को मछली की पीठ पर रखा। मछली हवा पर राखी। चाटो का कादिर पाक ने इनसान को एक मुठी षाक सो ओर गरदिस आसमान सो बरस व कुरसी व लोहे व कलम व पैदाइस आदम की एक साइत में ऐसा सब किया। तमाम आलम तेरी जात भी हैरान है तै नीचे परदे को छिपा है तिस षुदाई का शुकुर बेशुमार। तारीफ हजरत मुहम्मद मुस्तफा।"

यदुनाथ शुक्ला

उसी 'खोज रिपोर्ट'[१] की पृष्ठ संख्या ८० तथा रिपोर्ट संख्या ११९ में यदुनाथ शुक्ल कृत एक ज्योतिष ग्रन्थ पंचाग दर्शन का उल्लेख है। इसका लिपि-काल संवत १८५७ है। इसकी भाषा का नमूना देखिए :

"गुरु शुक्र सूर्य तीसरे चौथे शनि मंगल छठे इह योग लिखा गया है सो राजा सबको युद्ध में फल दाय।"

कवि महेश

खोज रिपोर्ट १९०१ में कवि महेश के 'हम्मीर रासो' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। इसमें हम्मीर का वृत्तान्त है तथा इसकी शैली गद्य-पद्यमयी है।[२]

बख्शी समन सिंह

आप रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह के आश्रित थे। इनके पूर्वज गुजरात के रहनेवाले थे। परन्तु मुगलराजा के समय में दिल्ली में आकर बसे और शाहजहाँ के राजकाल में रीवाँ चले आए। अब तक इस वंश की दरबार में विशेष प्रतिष्ठा रही। आप संस्कृत-फारसी के अनन्य विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही महाराज ने हिन्दी अलंकारों पर एक उपयोगी

१. एनुअल रिपोर्ट फार १९०३।
२. रिपोर्ट सं० ६२, पृष्ठ सं० ५५।

ग्रन्थ लिखने का आग्रह किया। अतः आपने 'पिंगल-काव्य-भूषण', नाम से सं० १८७९ में १६६ पृष्ठों का ग्रन्थ प्रस्तुत किया। पुस्तक पूर्ण है तथा इसमें गद्य-पद्यमय ब्रजभाषा है।

नवल सिंह

संवत १८९७ में नवलसिंह ने महाभारत वार्तिका लिखी। इसके गद्य का उदाहरण भी देखें :

"पुन भविष्य प्रादुर्भाव में पुष्कर क्षेत्र की उतपति कौ वर्नन है ताके स्नान दान हवन की महिमा है। सुत सहस्र संहिता भारत व्यास जी के वोष्ट बुठन ते निकसी है पुज्य को बड़ा वनवारी महा पवित्र है। पापन कौ हर्ता है।"

भाषा काफी शक्तिशाली तथा कथा कहने में समर्थ है।

व्यास

ने एक ग्रन्थ शकुन विचार विषय पर लिखा। जिसकी भाषा का नमूना देखिए :

"सुन भो पृच्छक तोहि शत्रुन को आधीन एक वार होइगो पै जो मनचाहि है सो तेरो कार्ज होइगो।"

यही बोलचाल की सामान्य भाषा का रूप था।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ऐसी मौलिक रचनाएँ जो केवल ब्रजभाषा-गद्य में हैं उनमें धार्मिक विषयों का प्राधान्य है, और ऐसी रचनाएँ जिनमें गद्य-पद्य दोनों हैं उनमें साहित्यिक विषयों का प्राधान्य। अन्य विविध विषयों में गद्य की ही प्रधानता है। अब हम ब्रजभाषा-गद्य की टीकाओं के साहित्य पर सम्यक् दृष्टिपात कर लेना अनपेक्षित नहीं समझते।

ब्रजभाषा-गद्य के अमौलिक साहित्य की पृष्ठभूमि

हम देख आए हैं कि ब्रजभाषा-गद्य के मौलिक साहित्य की वास्तविक विकास-परम्परा सोलहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थी; और उसमें स्वतन्त्र साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली दोनों ही प्रणालियों—यथा रचनात्मक तथा शास्त्रीय का प्रयोग हो चुका था। धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन, प्रचार और स्थापना के लिए कृष्णभक्ति-सम्प्रदायवालों ने जहाँ अनेक प्रकार के ग्रन्थों की उत्पत्ति में सहायता दी, वहीं साहित्यिक ढंग की पुस्तकों में छंद, अलंकार, ऋतु-वर्णन आदि विषयों का निरूपण भी होता रहा। गद्य का प्रवाह इन्हीं विषयों तक सीमित न रहकर ऐतिहासिक, पशुचिकित्सा तथा शकुन-विचार के क्षेत्रों में भी प्रवाहित होता रहा। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता था कि साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा का गद्य बिलकुल पूर्ण रहा।

परवर्ती काल में, प्रायः अठारहवीं शताब्दी में चलकर ऐसे अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनको समझने के लिए और जिनका आनन्द लेने के लिए टीका ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। संस्कृत साहित्य से चली आती हुई इस परम्परा का अनुकरण ब्रजभाषा में भी हुआ। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार की रचनाएँ होती रहीं, टीका-ग्रन्थों का निर्माण भी उसी के अनुसार हुआ। मध्यकाल के उत्तर काल में हमारे देश की सांस्कृतिक प्रवृत्ति का मुख ऐश्वर्य, विलासिता और श्रृंगार की ओर अधिक मुड़ गया था। सामन्ती काल में श्रृंगार-प्रधान वातावरण होने के कारण अधिकांश टीकाएँ उन ग्रन्थों पर मिलती हैं, जिनमें रूप, रस और विलास के वर्णन अधिक मिलते थे। श्रृंगारिक चित्रों की बारीकी को समझाने और कवि की वाक्चातुरी को प्रगट करने के लिए जिन ग्रन्थों में अधिक मसाला मिलने की सम्भावना थी, वे बिहारी, केशव, मतिराम आदि कवि ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझे गए थे। टीका ग्रन्थों की उत्पत्ति में केवल अर्थ के माध्यम से काव्य-रस का आस्वादन जहाँ निमित्त था, वहीं शास्त्रीय व्याख्या के माध्यम से काव्यरूप और उक्ति-वैचित्र्य का आनन्द उठाने के लिए रीति, अलंकार और पिंगल-ग्रन्थों की टीकाओं की भी आवश्यकता कम नहीं समझी गई थी। प्रसंगानुकूल टीकाकारों ने इन साहित्यिक प्रकार की टीकाओं में जो आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी उपस्थित कर दिया है, वह ब्रजभाषा गद्य में एक नवीन परम्परा की सृष्टि थी।

श्रृंगार के साथ-ही-साथ मध्यकाल में धार्मिक हलचल भी कुछ कम नहीं थी। कृष्ण सम्बन्धी सम्प्रदायों के द्वारा कृष्ण के मधुर रूप की उपासना ने ही श्रृंगार-कालीन प्रवृत्ति को जन्म दिया था। इससे कृष्ण का प्रभाव तो स्पष्ट है। प्रायः जिन धार्मिक ग्रन्थों की टीकाएँ मिलती हैं, वे कृष्णभक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थ ही हैं। ऐसी टीकाओं का उद्देश्य भक्तिरस का बोध कराना और जन-मानस में भगवान् के स्वरूप की विशेषताओं को प्रगट कर जनता का हित करना ही था।

इनके अतिरिक्त अन्य विषयों, जैसे, ज्योतिष और शकुन-विचार सम्बन्धी ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनका उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, किन्तु भक्ति और श्रृंगार-प्रिय जनता की भाग्यवादी मनोवृत्ति की सहज उत्सुकता का बोध तो कराती ही हैं। इस प्रकार की दुर्बलता आज भी कम नहीं है, फिर उस समय का पण्डित-वर्ग इस लाभ से क्यों वंचित रह जाता।

व्रजभाषा गद्य के अमौलिक साहित्य का दूसरा रूप अनुवादों में मिलता है, जो इस बात की सूचना अवश्य देता है कि तत्कालीन साहित्यकारों अथवा व्रजभाषा-प्रेमियों के मन में अपनी भाषा की सर्वांगीण उन्नति करने की कामना निश्चय ही बड़ी थी। वैसे अनुवादों का साहित्य बहुत ही थोड़ा है, फिर भी जिस प्रकार का राजकीय और विद्वानों का आश्रय, अनुमोदन और उत्साह-वर्धन दिखलाई पड़ता है, वैसा ही यदि बना रहता तो व्रज साहित्य का यह अंग भी काफी परिपुष्ट और पूर्ण होता। किन्तु कुछ देश-काल की सीमाएँ भी थीं, जैसे, व्रजभाषा प्रेमियों के सम्मुख उस समय केवल दो ही प्रकार की ऐसी भाषाएँ थीं, जिनके ग्रन्थों का अनुवाद किया जा सकता था, संस्कृत और फारसी का। उसमें से भी सामाजिक उपयोग के लिए जो विषय अधिक महत्त्व-पूर्ण समझे गए उन्हीं का अनुवाद किया गया, जैसे, धार्मिक, साहित्यिक, वैद्यक तथा दार्शनिक आदि। ध्यान देने की बात यह है कि साहित्यिक विषयों में पद्य को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना गद्य को। गल्पादि और नाटकों के अनुवाद रुचि-परिवर्तन के विकास की सूचना देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रजभाषा गद्य के अमौलिक साहित्य के अन्तर्गत जो ग्रन्थ मिलते हैं उनके दो रूप हैं—(१) टीका और (२) अनुवाद, जिसके विकास का परिचय अगले अध्यायों में कालक्रम से दिया जाएगा।

ब्रजभाषा-गद्य का अमौलिक साहित्य

अठारहवीं शती के मध्य से लेकर १९वीं के अंत या बीसवीं शती के प्रारम्भ तक इनका कालक्रम ठहरेगा। इस बीच ऐसे साहित्य की रचनाएँ हो चुकी थीं, जिनकी प्रेषणीयता सामान्य लोगों के लिए दुरूह थी। वे उसे ठीक से न तो समझ ही पाते थे, न उनका आनन्द ही उठा पाते थे। अतः विषय को सरल, सुबोध तथा सर्वसुगम बनाने के लिए टीका-टिप्पणियों की आवश्यकता पड़ी, और ब्रजभाषा-गद्य में टीका-ग्रंथों का निर्माण होने लगा। दूसरे, उस समय सामन्ती युग था। विलासी राजाओं की श्रृंगारिक वृत्ति की तृप्ति के लिए आश्रय-प्राप्त साहित्यिक घोर-से-घोर श्रृंगार का वर्णन करते थे, और उन ग्रन्थों की टीकाएँ करते थे। बिहारी की 'बिहारी सतसई', केशवदास की 'रसिकप्रिया' तथा 'कविप्रिया' और मतिराम-कृत 'रसराज' जैसे ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। इनमें जितनी अधिक टीकाएँ बिहारी पर लिखी गयीं, उतनी तत्कालीन किसी भी कवि के किसी भी ग्रंथ पर नहीं।

जहाँ तक टीकाओं की विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, मोटे तौर पर उनके तीन प्रकार किये जा सकते हैं : १. साहित्यिक, २. धार्मिक, तथा ३. अन्य।

वास्तव में ब्रजभाषा-गद्य का साहित्यिक रूप टीकाओं में ही प्राप्त होता है। टीकाएँ केवल अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए ही नहीं लिखी जाती थीं, .वरन् रचना की व्यावहारिक आलोचना भी उसके द्वारा की जाती थी। इस प्रकार की समीक्षा का बीज-रूप संस्कृत टीकाओं में मिलता है; यद्यपि आज व्यावहारिक समीक्षा का जो रूप है, वह संस्कृत-साहित्य में नहीं दिखलाई पड़ता। ब्रजभाषा में इस प्रकार की समीक्षा का यह अपना रूप था। 'भाषा भूषण' के रचयिता महाराज जसवन्तसिंह ने अलंकारों पर अपने ढंग से विचार किया है। कुलपति मिश्र ने 'रस-रहस्य' नामक टीका में रस-सम्बन्धी मौलिक स्थापनाएँ की हैं। 'रसिकप्रिया' पर सरदार और नारायन ने भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। कहीं-कहीं इन टीकाओं का रूप इतना स्पष्ट और शैली इतनी मौलिक है कि उसका विकास एक गौरव की बात होती। एक बात ध्यान देने की है कि इन टीकाओं में भी मौलिक ब्रजभाषा-गद्य की भाँति केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-मिश्रित ब्रजभाषा के प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है। बिहारी-सतसई की टीकाओं में गद्य तथा गद्य-पद्य मिश्रित दोनों का रूप परिलक्षित किया जा सकता है। कृष्ण

कवि, सूरति मिश्र तथा ठाकुर की टीकाएँ तो केवल गद्य में हैं, किन्तु राधाकृष्ण चौबे तथा अमरसिंह कायस्थ की टीकाओं में गद्य-पद्य का मिश्रित रूप दिखलाई पड़ता है।

इस प्रकार की साहित्यिक टीकाओं में केशवदास की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' पर भी अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं, जिनमें से मुख्य हैं : 'कविप्रिया' पर सूरति मिश्र की 'कविप्रिया तिलक'; 'रसिकप्रिया' पर 'रस-गाहक चन्द्रिका'; हरिचरणदास द्वारा लिखित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' तथा 'भाषा भूषण' नाम की टीकाएँ। याकूब खाँ नामक एक मुसलमान ने भी 'रसिकप्रिया' की टीका लिखी है। हरिचरणदास, दलपतिराय तथा वंशीधर प्रभृति लोगों ने मतिराम के 'भाषा भूषण' पर टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। बालकृष्णदास नाम के किसी व्यक्ति ने 'श्री सूरदास जी के दृष्टकूट सटीक' लिखा। एक अज्ञात व्यक्ति की 'रामचरित मानस' पर भी टीका प्राप्त होती है।

इन साहित्यिक प्रकार की टीकाओं के अतिरिक्त धार्मिक तथा अन्यान्य विषयों के ग्रंथों पर भी टीकाएँ प्राप्त हुई हैं, किन्तु वे कम हैं। जहाँ तक धार्मिक ग्रंथों का प्रश्न है, 'भक्तिरस बोधिनी'; 'हितोपदेश प्रदीप', 'भगवतटीका भाषा,' 'हित चौरासी की टीका' नामक टीकाओं को क्रमशः अग्रनारायणदास, 'अज्ञात,' 'अज्ञात', प्रेमदास, प्रियदास, माथुर कृष्णदेव तथा भगवानदास ने लिखा। नाभादासकृत 'भक्तमाल' पर 'प्रियादास'-कृत टीका की टीका और दृष्टान्त अग्रनारायणदास द्वारा 'भक्तिरस बोधिनी' नाम से हुआ है। यद्यपि ग्रंथकर्ता और दृष्टान्तकार कौन है, इस विषय पर लोगों में काफी मतभेद है, पर मेरी राय में अग्रनारायणदास जी टीकाकार प्रतीत होते हैं, और वैष्णवदास जी दृष्टान्तकार।

जहाँ तक अन्यान्य विषयों का प्रश्न है, ज्योतिष, आदि सीमित विषयों पर ही टीका-ग्रंथ उपलब्ध हैं। किसी अज्ञात व्यक्ति ने 'भुवनदीपिका' नामक सटीक ज्योतिष-ग्रंथ लिखा; 'वासुदेव पुराण' वाले नन्ददास ने 'विज्ञानार्थ प्रकाशिका' नामक संस्कृत-ग्रंथ की टीका लिखी।

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि टीकाओं का साहित्य भी (जो प्राप्त है) देश-काल के अनुसार कम नहीं रहा है। इनमें, साहित्यिक प्रकार की टीकाओं में, विश्लेषणात्मक पद्धति ही नहीं, अपितु विवेचना के समीक्षा-प्रकार में नये प्रयोग किये गये और समीक्षात्मक दृष्टि का वास्तविक रूप से श्रीगणेश हुआ। अब हम कालक्रमानुसार टीकाकारों के परिचय के साथ भाषा के विकास-क्रम का अवलोकन करेंगे।

श्री गोपेश्वर जी (१६४९-१७५०) : प्रसिद्ध वार्ताकार, संकलनकर्ता तथा

संपादक हरिराय जी के अनुज थे। इन्होंने हरिराय जी के संस्कृत-ग्रंथ 'शिक्षा पत्र' की टीका व्रजभाषा में की है, जिसके गद्य का नमूना है :

"भक्त के दुख को सहन नाहीं करि सकै। ऐसे प्रभु वाही समय वा प्रतिबन्ध को निश्चय निवृत करें। काहे तें जो अपन सों कहु न बनै तहाँ हरि ही रक्षक हैं, ऐसौ ही श्री महाप्रभु जी को वचनामृत है।"

भाषा की स्पष्टता द्रष्टव्य है।

प्रेमदास (१६५०) : ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय के थे। इन्होंने व्रज-भाषा-गद्य में 'हित चौरासी' की टीका लिखी है। इनका समय १८वीं शताब्दी का मध्यकाल माना गया है। इनकी भाषा का उदाहरण देखिए :

"श्री वृन्दावन विषें सरद अरु बसन्त रितु विमिश्रित सदा रहै है। श्री वृन्दावन सदा फूल्यौ रह्यौ है। सो तो बसन्त को हेतु है। अरु सदा निर्मल रहत है सो सरद को हेतु है और इ जो रितु हैं सो अपने-अपने समय पर सबही आवे हैं एक समय श्री प्रीतम जी राजि को हिरनि की निकुंज विषें विराजमान हैं तहाँ बसन्त मिश्रित सरद रितु है।"

भक्ति से गद्‌गद हुई भाषा काव्यात्मक भाव को कितनी मधुरता से व्यक्त कर पा रही है।

एक अज्ञात व्यक्ति द्वारा लिखा हुआ 'भुवन-दीपिका' नाम का सटीक ज्योतिष-ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। पुस्तक प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि उसका लिपिकाल सं० १६७१ दिया है। इससे स्पष्ट है कि रचनाकाल अवश्य ही लिपि-काल से पूर्व है। इसमें टीका के लिए प्रयुक्त गद्य का नमूना देखिए :

"जउ अस्त्री पुत्र तणी प्रछा करई। आठमइ नवमइ स्थानि एकलो शुक्र होई तउ स्वभाव रमतो कहिवउ। जउ विजर शुभग्रह होई, तउ संभोग सुखई कहिवउ। चन्द्र सरिसउ होय। शुक्र होइ तउ अधिक द्राव कहिवउ। शुक्र सरिसउ क्रूरग्रह होइ तउ संभोग पीड़ा कहवी।"

इसकी भाषा में व्रजभाषापन कम और देशी बोलियों का प्रभाव अधिक दीख पड़ता है।

कुलपति मिश्र : आप आगरे के रहने वाले माथुर वंश के ब्राह्मण थे। इन्होंने व्रजभाषा में 'रस रहस्य' नामक एक रीति-ग्रंथ की रचना की थी। विषय के स्पष्टीकरण के लिए इन्होंने उसमें टीका-पद्धति पर गद्य का भी प्रयोग किया था। इनका समय संवत् १७२७ माना जाता है। उनकी भाषा का उदाहरण देखिए :

"अरु रस ध्वनि में भाव ही व्यंगि होता है तातें रस ध्वनि क्यों न होइ, द्वै भेद काहे को गहै। तहाँ सावधान करत है। प्रथम तो भरत की आज्ञा समान अरु जहाँ कवि की रति साक्षात देवतन विषें राजा विषें व्यंग्य होइ। विभावादि निरपेक्ष सो भावधुनि कहियै, तातें प्रधानता करि के कवि ही की उक्ति तें भाव व्यंगि होतु है, कोउ बीच अंतराहि नाहीं और जहाँ कवि की उक्ति तें कवि निबंध वक्ता की प्रतीति होइ।"

भाषा विषय के अनुकूल यद्यपि नहीं बन पायी है, परन्तु अधिक अस्पष्ट नहीं कही जा सकती।

माथुर कृष्णदेव : इन्होंने व्रजभाषा में 'भागवत' की टीका की थी। उस टीका की एक प्रति उपलब्ध हुई है, जिसमें उसका लिपिकाल १७५० दिया है। इसकी भाषा का उदाहरण लीजिए :

"अति दुसह जो श्रीकृष्ण को विरह ता करि जो भयो अधिक संताप करि इक भए हैं पाप कर्म जिनके अरु ध्यान करि मन विषें प्रगट भए जु श्रीकृष्ण हें तिन सों जु मिलाप हें ता मिलिबे के सुख करि पूरि भए हें पुन्य कर्म जिनके ऐसी व्रज सुन्दरी वाही परमात्मा को ध्यान करति।"

राधाकृष्ण चौबे : इन्होंने सं० १७५० में 'बिहारी सतसई' पर एक टीका लिखी थी।

भगवानदास (१७५६)[१] : हस्तलिखित प्रतियों की वार्षिक खोज-रिपोर्ट में भगवानदास-कृत 'भाषामृत' नामक एक ग्रन्थ का पता चला है, जो रामानुजाचार्य की पद्धति पर 'भागवत-गीता' की टीका है। भगवानदास जी स्वामी दामोदरदास के प्रशिष्य थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—स्वामी कूबा जी, स्वामी दामोदरदास जी, भयानकाचार्य तथा भगवानदास जी। प्रस्तुत टीका गद्य में है। इसमें ६१८ पृष्ठ हैं। पुस्तक अनेक अशुद्धियों से भरी होने पर भी पूर्ण है। इसकी भाषा का नमूना देखिए :

"श्री राजाजी यहाँ सर्वेश्वर श्रीकृष्ण हैं। अस धनुषधारी अर्जुन हें तिहा ही निश्चय जय हो जायगी वहाँ ही। अनंत विभूति होयगी। ए मेरी मति करि के में निश्चय करतई। ऐसे प्रकार संजय राजा धृतराष्ट्र के कह्यो। ७८।"

भाषा कितनी साफ और चलती है।

सूरति मिश्र (१७६७) : ये आगरा के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण

१. खोज रिपोर्ट १९००, श्यामसुन्दरदास-कृत, पृष्ठ ६२ रि० सं० ६९।

थे। इन्होंने ब्रजभाषा-गद्य की सर्वांगीण उन्नति करने का प्रयास किया था। 'अमर चन्द्रिका' नाम से 'बिहारी सतसई' की टीका की और 'कविप्रिया तिलक' नाम से केशव की 'कविप्रिया' के क्लिष्ट स्थलों की मार्मिक और स्पष्ट टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की थी। संवत् १७६८ में 'बैताल पञ्चविंशति' का ब्रजभाषा-गद्य में अनुवाद भी किया था। इसी पुस्तक के आधार पर आगे चलकर लल्लूलाल जी ने खड़ी बोली में 'बैताल पचीसी' की रचना की थी। इनकी 'कविप्रिया तिलक' की भाषा का नमूना इस प्रकार है:

"सीस फूल सुहाग अरु बेंदा भाग ए दोऊ आए पाँवड़े सौहे सोने के कुसुम तिन पर पैर धरि आये हैं।"

याक़ूब खाँ (सं० १७७५): 'रसिकप्रिया' पर एक टीका इनकी मिलती है।

दलपतिराय तथा वंशीधर: इन्होंने भी 'अलंकार रत्नाकर' नाम से मतिराम के 'भारत भूषण' की टीका की।

ये सभी टीकाएँ गद्य में हैं।

प्रियादास: आप डाकौर के रहनेवाले थे, और आपने सं० १७७९ में गोस्वामी हितहरिवंश के चौरासी पदों पर स्फुट टीकाएँ लिखीं। आपने भक्त-माल पर भी टीका लिखी थी। इनकी टीका पर टीका, और दृष्टान्त 'भक्ति रस बोधिनी' नाम से लिखा गया।

कृष्ण कवि: ये बिहारी के पुत्र थे, और इन्होंने 'बिहारी सतसई' पर टीका लिखी। इनका समय सं० १७८५ से १७९० के मध्य का माना जाता है।

रघुनाथ (१७९६-१८०७): इन्होंने भी 'बिहारी सतसई' की टीका लिखी। खोज-रिपोर्ट[1] (१९०१) के अनुसार एक अज्ञात लेखक की 'भागवत गीता भाषा' नामक टीका, गीता पर, मिलती है। इसका लिपिकाल है सं० १७९८, वैशाख, बदी अमावस गुरुवार। इसकी भाषा का रूप देखिए:

"श्री भागवत गीता टीका लिषते ॥ श्री राजा धृत्राष्ट संजे प्रत पूछत है हमारे पुत्र और पंडव के पुत्र करुषेत्र विषे मिले हैं, हमारे पुत्र और पंड्ड के पुत्र कह करत भये सो तुम हमसे कहो संजैयोवाच ॥ तुमारे पुत्र दरजोधन और पांडवां

---

१. पृष्ठ-संख्या ७३ रि० सं० ९१।

की सेन्या व्यूह रचि राषो है। ऐसे देख्यो तब दोणाचारिज पे जाय ए केते भए।"

इसकी भाषा में खड़ी बोली का आभास पंजाबीपन के पुट के साथ स्पष्ट देखा जा सकता है।

हरिचरणदास : इन्होंने 'बिहारी सतसई की टीका' सं० १७७७ में तथा केशवदास की 'कविप्रिया' की टीका सं० १७७९ में लिखी है।

रामभजन : आप रामसनेही-पंथ के संस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य थे और आपने 'दृष्टान्त सागर' की टीका तथा 'टीका संपुषाति वचनिका' १७८२ में लिखी।

रामचरण : आप अयोध्या के महन्त थे, और आपने ब्रजभाषा-गद्य में 'रामचरितमानस' की टीका लिखी।

रतनदास : इन्होंने नागरीदास के 'अष्टक' की 'अष्टक टीका' लिखी।

असनी के दूसरे ठाकुर : इन्होंने सं० १८०४ में 'बिहारी सतसई' की 'देवकीनन्दन' नाम की टीका प्रस्तुत की।

अमरसिंह कायस्थ : इन्होंने 'अमर चन्द्रिका' नाम से 'बिहारी सतसई' की एक टीका लिखी, जिसकी भाषा का उदाहरण देखिए :

"यह कवि की विनती जान प्रगटत अपनी अधमता अधिकाई धुनि आन जितौ अधम तिमी बड़ी भवबाधा यह अर्थ तिहि हरिबे को चाहिए। कोऊ बड़ो समर्थ नरबाधा कै सुई हरत, सुरबाधा ब्रह्मादि ब्रह्मादिक की बाधा कौं हरत जु स्याम, अगाध लखि राधा तन स्याम की बाधा रहत ना कोई, ताते मो बाधा हरो।"

खोज-रिपोर्ट १९०३ के अनुसार शिवलाल पाठक के किसी शिष्य द्वारा 'रामचरितमानस' की टीका ब्रजभाषा-गद्य में लिखी गयी। इसका नाम है 'रामचरितमानस मुक्तावली'। कई व्यक्तियों के पास इसकी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। सर्वप्रथम १८९० में इसकी एक हस्तलिखित प्रति तैयार की गयी थी। इसकी भाषा का उदाहरण देखिए :

"येहि सुमिरित सिधि होई—इत्यादि। प्रथम सुमिरत मात्र सिद्धि होत है। गननायक जो आयु ऐश्वर्य सो, गननायक कहै। करिवर बदन केरि आप स्वरूप सों करिवर बदन है॥ बुद्धि रासि॥ फेरि जो आयु स्वभाव सो बुद्धि के रासि हैं।"

भाषा अस्पष्ट तथा कमजोर दिखाई पड़ती है।

बख्तेश (१८२८) : इनके आश्रयदाता राजा रतनसिंह के भाई शत्रुजित

जी थे। इन्होंने मतिराम-कृत 'रसराज' पर संवत् १८२८ में एक टीका लिखी थी। उसकी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

"नाइका नाटक जो है ताके आलम्बित कहैं आधार शृंगाररस होत है। कौन प्रकार कै आधार कहैं देश कै तातैं कवि कहत हैं कै नाइका नाइक कौ वरनन करत हौं अपनी बुद्धि के अनुसार तै ग्रन्थ को नाम 'रसराज' है सो रस नाइका नाइक के आधीन होत है।"

इसकी भाषा भी अशक्त और उलझनपूर्ण है।

खोज-रिपोर्ट १९०१ के अनुसार (पृष्ठ-संख्या ६४, रिपोर्ट संख्या ७६) 'हितोपदेश भाषा सटीक' नाम की एक टीका का पता चलता है। यह गद्य-पद्य-मय ग्वालियरी भाषा में लिखी है। इस भाषा को पहले मारवाड़ की व्रजभाषा कहा जाता था। बाद में इसे पिंगल की संज्ञा दे दी गयी। गद्य का प्रसंग वार्ता से प्रारंभ होता है। देखिए :

"॥ १ वार्ता ॥ प्रथम ही श्री महादेव जू के प्रसाद तै सरल काम की सिद्धि होय। कैसे है श्री महादेव जू। जिनके सीस ऊपर चन्द्रमा कला प्रस्तुत है। गंगा सिर ऊपर सोभतु है।"

महाराज विश्वनाथ सिंह रीवाँ-नरेश : इन्होंने भगवान् रामचन्द्र की स्तुति में लिखे हुए 'गीत रघुनन्दन' पर टीका लिखी, किन्तु ग्रंथ पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि वह गोस्वामी जमुनादास द्वारा ही निर्मित है। इस ग्रंथ की टीका सं० १९०१ सावन सुदी ४ शुक्रवार को सम्पूर्ण हुई। इसकी भाषा गद्य-पद्य-मय है। उदाहरणार्थ :

"महाजनक का कवित्त ॥ राम, महापरताप हरीसुष साधन है विसुनाथ प्रिये हैं। राम जे पट साम हैं तिनको जो महापरताप है ताको हरैया सुख साधन हैं अर्थात साधन के सुख येई हैं अरु विसुनाथ जे ब्रह्मादिक तिनको प्रिय है ॥१॥ राम महा परताप हरी सुख साधन है विसुनाथ प्रिये हैं दूसर तुक का अर्थ फिर कैसे है रघुनंदन राम हे लोचन को निज गुनन करि कै रमावन वरि हैं ॥"

इन्हीं महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'धनुर्विद्या' नामक स्वरचित मूल ग्रंथ की टीका लिखी है। इसमें धनुर्विद्या के आचार्य और शिष्य के लक्षण दिये हैं। फिर यह बतलाया है कि शिष्य अमुक समय पर इस तरह धनुर्दान कर पहिले पुष्प पर वाण चलावे तब फल पर, फिर मत्स्य पर, माँस पर, इसी में जहाँ निशाना लगे उसका फल भी वर्णित है। फिर धनुष का लक्षण, वाण का लक्षण, लोहे के फल का लक्षण, वाण में औषधि लगाने का लक्षण, मुष्टि-संधान आदि विधानों

का सूक्ष्म रीति से वर्णन किया है। प्रस्तुत ग्रंथ गद्य-पद्य-मय शैली में है। इसकी भाषा देखिए :

"औ जेके न रथ होइ न हाथी होइ सो तरवार औ सांग को धनुष लै कै औ करिहामा एक तईस बाँधि के घोड़े मा चढ़ै ॥८३॥ तेके उपरान्त विष्णु का स्मरण करि अर्जुन का नाम पढ़ै पुनि चतुरंगिनी ते युद्ध का चलै।"

इसके अतिरिक्त इन्हीं राजा साहब ने 'अनुभव परप्रदर्शनी टीका' नाम से कबीरदास के ग्रंथों की टीका की है। इसकी भी भाषा गद्य-पद्य-मय है। इसे भी देख लीजिए :

"जेतने भर कबीर जी के ग्रंथ हैं ते भर यही बीजक को मत लै कै बने हैं याँ ते यह बीजक सब ग्रंथ केर बीजक है आदि आदि।"

राजा साहब की भाषा एक कुशल टीकाकार की भाषा है। सरल, स्पष्ट तथा सधे मुहावरों में भाषा बड़ी ही सुगमता से भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। इनकी भाषा में गद्य की उसी संपन्नता का आभास मिलता है, जो पूर्ववर्ती स्वतंत्र लेखकों की भाषा में था।

अग्रनारायण और वैष्णवदास : इन दोनों महानुभावों ने भामादास और प्रियादास कृत 'भक्तमाल' की ब्रजभाषा-गद्य में टीका लिखी थी। इस टीका की दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक का नाम 'भक्तिरस बोधिनी' और दूसरे का 'भक्तमाल-प्रसंग' है। इन दोनों के लिपिकाल में भी भेद है। एक का लिपिकाल १८२५ है, तथा दूसरे का सं० १८४४। इसकी भाषा यों है :

"तब श्रीकृष्ण अघोर वंशी बजाई। प्रजगोपकानि सुनि राधिका, ललिता, विशाषादि गोपी आई। रास मंडल रच्यौ, राग, रंग नृत्य, गान, आलाप, आलिंगन, संभासन भया। उद्यादि सर में जलक्रीडा स्नान गोपी कुच कुंकुम केशर छुप्यौ सो गोपी चंदन भयौ, गोपी तलाई भई वृजि प्राप्ति।"

जानकीप्रसाद : खोज-रिपोर्ट १९०३ में पृष्ठ-संख्या १८-१९ पर जानकीप्रसाद का उल्लेख मिलता है। आपने केशवदास की 'रामचन्द्रिका' की गद्य-पद्य मय भाषा में 'राम भक्ति प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी है। टीकाकार ने विस्तार-भय से केवल कठिन शब्दों के अर्थ किये हैं। इसकी भाषा का नमूना देखिए :

"॥ टीका ॥ कलाप समूह ॥ पुन्य पाप के नाश सों मुक्ति होती है यह वेदान्त को मत है। अथवा इनके धारन सों प्राप्त जो यज्ञादि को अशेष सम्पूर्ण पुन्य है तासों पाप के कलाप बहाइ कै।"

एक पद की टीका देखिए :

राघव सर लाघव गति, छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित, मानहु उडिकै गयो ॥

टीका—"सबल कहें अनेक रंग मिश्रित है, अंसु कहे किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानो कलिंद गिरि शृंग तें हंस कहे हंस समूह उड़ गयो है। यहाँ जाति विषै एक बचन है। हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य के सदृश अनेक रंग जटित मुकुट हैं।"

लगता है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रकार की टीकाओं के कारण सम्पूर्ण टीका-साहित्य की भाषा को 'अनगढ़' और लद्धड़ कहकर सम्बोधित किया है।

इन मुख्य-मुख्य टीकाकारों के अतिरिक्त कितने ऐसे अनेक टीकाकार हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों से व्रजभाषा-गद्य-साहित्य को सम्पन्न किया है। कुछ तो प्रकाश में हैं, जैसे रघुनाथ (१७९६), नंददास, दलपतिराय, वंशीधर, ईसवी खाँ, प्रताप साहि, सरदार कवि (१८४७), लछमनराव (१८१५), कृष्ण-लाल, देवतीरथ या काष्ठ जिह्वा तथा काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह जी आदि। इनकी टीकाओं के विषय क्रमशः इस प्रकार हैं : 'विहारी सतसई' की टीका; 'विज्ञानार्थ प्रकाशिका की टीका,' 'भारत भूषण' की 'अलंकार रत्नाकर' नाम से टीका; 'बिहारी सतसई की टीका,' मतिराम-कृत 'रसराज' की टीका, 'रसिक-प्रिया' की टीका; 'कविप्रिया' की 'लछमन चन्द्रिका' नाम से टीका, 'बिहारी सतसई की टीका,' 'मानस परिचय' नाम से 'रामचरितमानस की टीका,' तथा 'मानस परिचय' का परिशिष्ट, आदि। और न जाने कितने ऐसे ही रत्न अनुसन्धान के अभाव में अप्रकाशित पड़े होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रजभाषा-गद्य में टीकाओं का एक व्यापक साहित्य है। इनमें से कुछ धार्मिक ग्रंथों पर और अधिकांश साहित्यिक ग्रंथों पर टीकाएँ हैं। ध्यान देने की बात है कि व्रजभाषा में टीकाओं का साहित्य भी पूर्णतया संस्कृत की शैली की अनुकृतिमात्र है। इसका मुख्य कारण यही था कि भाषा का साहित्यकार संस्कृत का पंडित पहले होता था और भाषा का रचयिता बाद में। फिर भी केशवदास, श्रीपति, जसवन्तसिंह तथा भिखारीदास आदि कुछ ऐसे भी आचार्य हुए, जिन्होंने संस्कृत साहित्य से प्रभावित रहने पर भी अपनी विशेषताओं का त्याग नहीं किया। इनकी मौलिकता का दर्शन टीकाओं में मिल जाता है।

केशव, मतिराम आदि आचार्यों के अतिरिक्त गद्य-टीकाकार 'भाषा भूषण' के रचयिता महाराज जसवन्तसिंह ने अलंकारों पर अपने ढंग से विचार किया है, और मीमांसा द्वारा अपन्हुति का एक भेद स्थापित किया है। इसी प्रकार कुलपति मिश्र ने 'रस-रहस्य' में रस-सम्बन्धी कुछ नयी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। इनकी विशिष्टता के लिए यही कह देना पर्याप्त होगा कि इन्होंने 'केशव' की रचना को सबसे पहल-पहल दोषों के उदाहरण में उपस्थित किया है।

आलोचना-सम्बन्धी स्थापनाएँ, जो संस्कृत साहित्य में मान्य थीं, उनका रूप सिद्धान्तों तक ही सीमित था। रस, ध्वनि अलंकार, वक्रोक्ति आदि द्वारा अनेक वादों की स्थापना तो हुई, किन्तु व्यावहारिक ढंग की समीक्षा का रूप उनमें न था। ब्रजभाषा के टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में इस व्यावहारिक पक्ष की पद्धति अपना कर ब्रज-साहित्य को समीक्षा-सम्बन्धी एक अपूर्व देन दी है। भिखारीदास जी ने कई स्थलों पर संस्कृत से परे हटकर अपना स्वतन्त्र मत स्थापित किया है। सबसे पहले इन्हीं की दृष्टि भाषा और तुकों पर गयी। इसी प्रकार केशव की 'रसिकप्रिया' और कविप्रिया' पर सरदार तथा उनके शिष्य अग्रनारायणदास जी ने बड़ी ही विवेचनापूर्ण टीकाएँ प्रस्तुत की हैं।

व्यावहारिक समीक्षा के अतिरिक्त टीकाओं में कहीं-कहीं तुलनात्मक समीक्षा का रूप भी पाया जाता है, जैसे जानकीप्रसाद की 'रामचन्द्रिका' की टीका। इसी प्रकार व्यावहारिक तथा तुलनात्मक ढंग की समीक्षाओं का रूप यदि प्रचलित होता रहता, तो आज जिस प्रकार विदेशी समीक्षा-पद्धति का हमें आश्रय लेना पड़ता है, वह न लेना पड़ता, वरन् भारतीय समीक्षा की एक दूसरी परम्परा ही बन गयी होती।

एक बड़ा आरोप इन टीकाओं की भाषा के सम्बन्ध में किया जाता है। शुक्ल जी के विचार से ये टीकाएँ संस्कृत की 'इत्यमर और कथंभूतं' वाली टीकाओं की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की सम्भावना न थी। "भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाए, पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए।" सामान्यतः लोगों को ब्रजभाषा-गद्य की टीकाएँ अत्यन्त निराशाजनक, शब्द-संगठन की व्यवस्था तथा भाव-प्रकाशन की शक्ति से हीन लगीं। ये बातें आंशिक रूप से सत्य हो सकती हैं, पर पूर्ण रूप से नहीं। "प्रताप साहि रसिक गोविन्द, आदि रीति-ग्रंथकारों ने कभी-कभी रस और अलंकार आदि के स्पष्टीकरण के लिए ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग किया है। तथापि सब मिलाकर

ब्रजभाषा का गद्य, पद्य का अनुवर्ती ही बना रहा, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कथंभूती अनुवाद कहकर उपहास किया है।"[१]

इसके अतिरिक्त टीकाओं का साहित्य इतना अधिक है कि उसकी उपयोगिता को दो वाक्यों में हँसकर उड़ा नहीं दिया जा सकता। उस काल की भाषा का वह रूप नहीं था, जो आज की भाषा का है; न विचार करने और समझने-समझाने की वह पद्धति ही थी। अतः आज की कसौटी पर उन टीकाओं को कसना किसी भी हद तक न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। टीकाएँ समझाने के लिए लिखी जाती थीं, अतः उनमें 'पंडिताऊपन' का आ जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। दूसरे, गद्य को साधारण ढंग से व्यक्त करने की ही प्रथा थी। कला के क्षेत्र में गद्य का कोई रूप ब्रजभाषा में स्वीकृत नहीं हुआ था। सीधी बात सीधे ढंग से कह देने का तरीका चल पड़ा था। जो भी बनाव, कटाव और बारीकी थी, वह काव्य के लिए ही सुरक्षित रखी गयी थी। फिर भी भाषा का कोई इतना अनर्गल रूप नहीं था, जैसा कि उनके ऊपर आक्षेप किया गया है। गोपेश्वर जी, प्रेमदास जी, महाराज विश्वनाथसिंह जी तथा जानकीप्रसाद आदि टीकाकारों की भाषा अत्यन्त सरल, स्पष्ट तथा विषयानुकूल होती थी। यद्यपि अधिकांश टीकाओं की भाषा उतनी सर्व-सुगम नहीं है; फिर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वे साहित्य की दृष्टि से बिलकुल व्यर्थ हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ३६८।

ब्रजभाषा-गद्य का अनूदित साहित्य

सत्रहवीं शताब्दी ब्रजभाषा-गद्य का स्वर्णयुग कही जा सकती है। सम्पूर्ण उत्तर भारत में उस समय क्या गद्य, क्या काव्य, क्या अनुवाद सब में ब्रज-भाषा-साहित्य के विकास का चतुर्दिक् प्रयास दृष्टिगोचर होता है। टीकाओं और मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की सामग्रियों से भी ब्रज साहित्य को परिपूर्ण करने का आग्रह बढ़ने लगा था, अतः अनुवादों का एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया। यह सच है कि अनुवाद-सम्बन्धी साहित्य का पूर्णतया परिचय अनुसंधान के अभाव में साहित्य-प्रेमियों को नहीं मिल सका, फिर भी जितना अनूदित साहित्य प्राप्त है, वह ब्रजभाषा के गद्य की त्रिवध-विषय-सम्पन्नता तथा उसके उत्तरोत्तर विकसित होनेवाले प्रभाव को व्यक्त करने के लिए कम नहीं है। ब्रजभाषा-गद्य में अनुवादों का यह क्रम सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक पाया जाता है। इतने काल तक चलनेवाली इस परम्परा में इतना ही साहित्य रहा होगा, सहसा यह विश्वास कर लेने को जी नहीं चाहता है, क्योंकि धार्मिक सम्प्रदायों का इतना अधिक जोर उस काल में था कि प्रत्येक मत वाले अपनी महत्ता सिद्ध करने में लगे हुए थे और इसके लिए यह आवश्यक था कि वे अपनी प्राचीनता की परम्परा सिद्ध करें तथा अपने सम्प्रदाय की धार्मिक सुरक्षा के लिए उसकी आदर्शवादिता की कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि रखें, जिसके लिए संस्कृत की शरण जाने की अपेक्षा अन्य कोई सम्भावित मार्ग नहीं था। सम्भवतः धार्मिक ग्रंथों के ही अधिक अनुवाद होने के कारण यही रहे होंगे। भगवानदास द्वारा अनूदित 'श्री महाभागवत गीता' तथा मनोहरदास निरंजनी द्वारा अनूदित 'षट् दर्शन निर्णय' और सिद्ध-सिद्धान्तों की सूचना देनेवाला किसी 'अज्ञात' व्यक्ति द्वारा सिद्ध-सिद्धान्त' का अनुवाद इस बात के सूचक हैं। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अनुवादों का साहित्य भी धार्मिक कट्टरता के कारण या तो नष्ट हो गया होगा या किसी मठ में पड़ा-पड़ा किसी उद्धारकर्ता की राह देख रहा होगा।

ब्रजभाषा-गद्य में प्रायः अनुवाद संस्कृत ग्रंथों से हुए हैं, क्योंकि अन्य पूर्ववर्ती भाषाओं का न तो उतना देशव्यापी प्रचार ही था, न किसी साहित्य में ऐसी आवश्यक उपलब्धियाँ ही थीं, जितनी संस्कृत में थीं। ब्रजभाषा-गद्य

साहित्य में क्या मौलिक, क्या अमौलिक रचना में, एक सामान्य प्रवृत्ति जो पायी जाती है, अनुवादों का साहित्य भी उससे बचा न रह सका। जैसे, कुछ मौलिक ग्रंथों में केवल गद्य का उपयोग किया गया है, और कुछ में गद्य और पद्य दोनों का, वैसे ही कुछ ग्रंथों का केवल ब्रजभाषा-गद्य में अनुवाद मिलता है, और कुछ में गद्य और पद्य दोनों रूप प्राप्य हैं।

संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ फारसी ग्रंथों का अनुवाद भी ब्रजभाषा गद्य में हुआ है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि वे भी फारसी के मौलिक ग्रंथ नहीं हैं, वरन् संस्कृत के उपनिषदों के फारसी में अनुवाद हैं। उन अनुवादों का अनुवाद, ब्रजभाषा-गद्य में किया गया। अनुवादकर्त्ता, जिसने संस्कृत से फारसी में अनुवाद किया, कोई अज्ञात व्यक्ति है; शंकरदत्त कायस्थ ने संवत् १७७६ में उनका भाषानुवाद किया। इन ग्रंथों की संख्या बीस है।

केवल गद्य और गद्य-पद्य-मिश्रित दोनों में अनूदित ग्रंथों के विषय प्रायः धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक (गल्पादि) तथा वैद्यक आदि हैं। धार्मिक ग्रंथों में पुराण, उपनिषद्, गीता तथा दर्शन-ग्रंथों के अनुवाद मिलते हैं। किसी नन्ददास (प्रसिद्ध कवि नन्ददास नहीं) ने 'नासकेतु-पुराण' का केवल ब्रजभाषा गद्य में 'नासकेतु-पुराण-भाषा' नाम से संवत् १६१७ में अनुवाद किया। फारसी से अनूदित उपनिषदों की बात ऊपर की जा चुकी है। मनोहरदास निरंजनी ने करीब-करीब संवत् १८१२ में 'षट-दर्शनी-निर्णय' नाम से गद्य-पद्य-मिश्रित ब्रजभाषा में एक कथा-विषयक ग्रंथ का अनुवाद किया। जोधपुर के महाराजा मानसिंह के समय में (संवत् १८६०-१९००) किसी ने सिद्धनाथ-सम्प्रदाय-सम्बन्धी 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' का अनुवाद किया। 'श्रीमद्भागवत गीता' सम्बन्धी अनुवादों की प्रचुरता है। ये केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-मिश्रित, दोनों रूपों में पाये जाते हैं। जैसे केवल गद्य में भगवानदास-कृत 'भाषामृत' तथा १७९८ में किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा 'भगवतगीता भाषा' तथा आनंद राय द्वारा 'गीता' का अनुवाद गद्य-पद्य-मिश्रित रूप में प्राप्त है।

जोधपुर के राजा यशवन्तसिंह ने संस्कृत के 'प्रबन्ध-चन्द्रोदय नाटक' का ब्रजभाषा-गद्य में अनुवाद किया।

संवत् १८०० में, 'बैताल पचीसी' का सूरति मिश्र ने गद्य में अनुवाद किया। संवत् १६६९ में चंद्रसेन, संवत् १७४९ में आलम, तथा संवत् १८१४ में अनन्त ने क्रमशः 'माधवनिदान', 'ग्रंथ संजीवन' तथा 'वैद्यक-ग्रंथ की भाषा' नाम से वैद्यक ग्रंथों के अनुवाद किये।

अनुवादों की भाषा का विकास-क्रम

नंददास : व्रजभाषा के अनूदित गद्य-साहित्य में सर्वप्रथम नंददास का नाम लिया जा सकता है। कहा जा चुका है कि ये 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवि नंददास नहीं थे। किन्तु उसी समय के आस-पास ही इनका भी काल रहा होगा। व्रजभाषा-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी गद्य में इन्होंने ८२ पृष्ठों का 'नासकेतु पुराण' का भाषानुवाद किया। इस हस्तलिपि की प्रतिलिपि १७५६ में हुई थी, 'खोज रिपोर्ट' से ऐसा पता चलता है।[१] १६वीं तथा १७वीं शताब्दी में प्रचलित गद्य के स्वरूप को प्रकट करने के लिए इस पुस्तक की महत्ता कम नहीं है। इनका 'नासकेतु-पुराण भाषा', संस्कृत के नासकेतु पुराण का अनुवाद है, जिसकी भाषा इस प्रकार है :

"अहो विप्रनदि राजा जन्मेजय नासकेतु पुराण ही कृतारथ है। जैसे कोई प्राणी एकाग्र चित्त दे करि सुरमें पढ़े जो पारगामी होय, जैसे राजा जनमेजय पार होत भयो और सहस्र गऊ दियै कै फल होय।"

भाषा की अस्पष्टता द्रष्टव्य है।

चंद्रसेन मिश्र (संवत् १६६९) : आपके 'माधव निदान' नामक एक वैद्यक-ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति १६६९ में पायी गयी है, जो संस्कृत के प्रसिद्ध 'माधव निदान' नामक वैद्यक ग्रंथ का अनुवाद है। अहियापुर (इलाहाबाद) के श्री व्रजमोहन व्यास के यहाँ यह प्रति पायी गयी है; इसमें प्रयुक्त व्रजभाषा-गद्य का रूप इस प्रकार है :

जो कुछ वैद्यक हो सो सममान से एकठाँ करि रोग भी निश्चय करि इंदु करके पुत्रमाधव किया। भले प्रकार किया जो रोग निश्चय चहिते रोग की शंका त्याग करिणी।"

आलम (संवत् १७४९) : चाँद के किसी पुत्र आलम ने संवत् १७४९ के बाद किसी वैद्यक ग्रंथ का फारसी से, गद्य-पद्य मिश्रित भाषा में 'ग्रंथ संजीवन' नाम से अनुवाद किया।

दामोदरदास (सं० १७१५) : आप दादू सम्प्रदाय के साधु थे, और आपने 'मार्कण्डेय पुराण' का व्रजभाषा-गद्य में अनुवाद किया था। आपका समय संवत् १७१५ के लगभग है। भाषा का उदाहरण देखिए :

---

१. खोज रिपोर्ट १९०९, १९१०, १९११, पृष्ठ ११, श्यामविहारी मिश्र।

२. वही, पृष्ठ ८४।

"अब बंदन गुरुदेव कूँ नमस्कार गोविन्द जी कूँ नमस्कार सरब-परिवार है। सिध साध रिषै मुनिजन सरब ही कूँ नमस्कार। अहो तुम सब साध ऐसी बुधि देहु जा बुधि कहिया ग्रंथ की बारतिक भाषा अरथ रचना करिए। सरब संतन की कृपा ते समसत काज सिधि होय जी।"

तत्सम शब्दों, तथा सर्व का 'सरब', बुद्धि का 'बुधि', वार्तिक का 'बारतिक' अर्थ का 'अरथ' और समस्त का 'समसत' को तोड़-मरोड़ देने से भाषा की एकरसता नष्टप्राय हो गयी है।

भगवानदास (१७५६) : श्री रामानुजाचार्य के आधार पर भगवानदास जी ने श्रीमद्‌भागवत्‌गीता का अनुवाद 'भाषामृत' नाम से किया है। जिसकी भाषा इस प्रकार है :

"अरू गीताभाष्य का अर्थ के विषै बहुत सति हे। शरणमात्र हे तिनइ समझवे कूँ श्री गीता भाष्य श्री रामानुजाचार्य जी प्रगट करि दे। ताको अर्थ रूपी जो अमृत भगवानदास नाम श्री वैष्णव को दासानदास भाषा विस्तार कर्‍यौ हे।"

इनकी भाषा साधारण है। कहीं-कहीं शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग है। मुख्य विशेषता इस भाषा की क्रियापद के सम्बन्ध में है, जहाँ है का रूप 'हे' रखा गया है।

आनन्द राय (१७६१) : श्रीमद्‌भागवद्‌गीता अनुवाद संवत्‌ १७६१ में किसी आनन्द राय नामक व्यक्ति ने ब्रजभाषा में किया। इसमें गद्य के साथ-साथ पद्य भी है। यह अनुवाद उज्जैन में किया गया था। इसकी भाषा का नमूना देखिए :

"हे अर्जुन जो अनन्य चित्त है के सदा मेरा सुमिरन करै सो पुरुष बिला ही जोग युक्त है एकाग्रचित्त है ताते वह मोको सुष हो ते पावै अरू और पुरुष को पावै नाही।"

उपर्युक्त भाषा में खड़ी बोली का प्रभाव द्रष्टव्य है। भाषा साफ और भावों को प्रकट करने की सामर्थ्य से युक्त है।

सूरति मिश्र (१७६८) : इनका उल्लेख टीकाओं के प्रसंग में आ चुका है। इन्होंने संस्कृत के बैताल पंचविंशति का ब्रजभाषा-गद्य में अनुवाद भी किया है। आगे चलकर इसी पुस्तक के आधार पर लल्लूलाल जी ने खड़ी बोली में 'बैताल पचीसी' की रचना की।

अज्ञात (संवत्[1] १७७६) : किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा उपनिषद् भाष्यों का अनुवाद मिलता है, जिसने निम्नलिखित बीस उपनिषदों का भाषानुवाद प्रस्तुत किया है : (१) उपनिषद को षडर्ग। (२) शुकोपनिषद। (३) शिवसंकल्पोपनिषद। (४) शताब्दी उपनिषद। (५) मैत्रायणी उपनिषद। (६) वृद्धारण्यक उपनिषद। (७) कराली उपनिषद। (८) षड्वल्ली उपनिषद। (९) मुण्डकोपनिषद। (१०) कठोपनिषद। (११) कैवल्योपनिषद। (१२) अमृत बिन्दु उपनिषद। (१३) अन्यर्थ शिर उपनिषद। (१४) आत्मप्रबोधोपनिषद। (१५) सर्वोपनिषद। (६) नील रुद्रोपनिषद। (१७) तेजाबिन्दुपनिषद। (१८) हंसोपनिषद। (१९) अन्यर्थ शिखा उपनिषद। (२०) नृसिंहतपनिय उपनिषद।

अनुवादक लिखता है कि सं० १७१२ में शाहजहाँ ने इस ग्रन्थ को फारसी में लिखा था, उससे १७७६ में इसका ब्रजभाषा-गद्य में अनुवाद हुआ। इसकी भाषा में ब्रजभाषा का रूप इस प्रकार है :

"आत्मा को केवल ज्ञान ही के मार्ग प्राप्त न हूज्यत है। काम जो कर्णे के योग्य है सो यही है, अरू यह मारग ही ब्रह्म है। अरू यही सत है या मार्ग ज्ञान कैसो अज्ञातन जाध्यो भाषा असया मारग को त्याग कर अवर मार्ग का अंगिकरन चाह्य कीमा पुरातन रषीयो ने याही मार्ग का अंगीकार किया है।"

इसकी भाषा खिचड़ी और अव्यवस्थित है। कहीं-कहीं खड़ी बोली के विकृत रूप का समावेश भी परिलक्षित किया जा सकता है।

देवीचन्द (संवत् १७९७) : इन्होंने संस्कृत की प्रसिद्ध उपदेश-परक कथापुस्तक 'हितोपदेश' का ब्रजभाषा-गद्य में अनुवाद किया है। जिसका रूप इस प्रकार है :

"आवरदा करम द्रव्य विद्याभरण ए पाँचो वस्तु विधाता गर्भ ही माँहि देही कूँ सरजे है जाते भाँति जू लिख्यो सो अवश्य होइ, जैसे नीलकंठ महादेव जी भाँति कै वस्त्र होय साक्षात नंगा होय वन में रहतु है।"

अंतराम (संवत्[2] १८१४) : ये अठारहवीं शताब्दी के उत्तरकालीन लेखक प्रतीत होते हैं। स्वामी प्रतापसिंह जैपुर (१७७८-१८०३) की आज्ञानुसार इन्होंने

---

१. हस्तलिखित हिन्दी की वार्षिक खोज रिपोर्ट, श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ सं० ३६ रिपोर्ट संख्या ३३।

२. दि सेकेण्ड टर्मिनल रिपोर्ट आन दि सर्च फार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स फार दि इयर १९०९, १९१०, एण्ड १९११।

'वैद्यक ग्रंथ की भाषा' नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें ५३ पृष्ठ हैं। इनकी रचनाओं का काल १७७१ से १८१४ तक है। इनकी भाषा का नमूना देखिए :

"बालक के रती आँख होय तिहकी ओषधि लिख्यते महदी के फूल कसूमा के फूल रक्त-चन्दन ओषधि बाँटि सो बाँटि मासो पीवै रत्यान जाव।"

मनोहरदास निरंजनी (संवत् १८१३) : विक्रम की उन्नीसवीं सदी में भी ब्रजभाषा गद्य की रचनाएँ होती रही हैं। संवत १८१३ के आस-पास मनोहर-दास निरंजनी द्वारा गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में अनूदित 'दर्शनी निर्णय' नामक ग्रन्थ का पता चलता है। इसका विषय वेदान्त है, भाषा का रूप इस प्रकार है :

"ग्रन्थ करता गुरू कुम्भी इष्टदेवता सुअभेद करके ग्रन्थ की निधनता दूरि करिबे कै बहुरि निमस्कार करत है।"

अज्ञात (१८६०-१९००) : जोधपुर के महाराजा मानसिंह के समय में किसी ने सिद्धनाथ सम्प्रदाय सम्बन्धी 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' का अनुवाद ब्रजभाषा-गद्य में किया। इसमें नाथों के सिद्ध सम्प्रदाय सम्बन्धी बातों का विवरण है। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा-गद्य के अनुवादकों में १७वीं शताब्दी के महाराजा यशवन्तसिंह का नाम कभी भुलाया नहीं जा सकता। ये सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषा भूषण' के रचयिता होने के नाते अलंकार-शास्त्र के आचार्य तो माने ही जाते रहे हैं, पर इन्होंने 'भाषा भूषण' के अतिरिक्त कई तत्त्वज्ञान की पुस्तकें भी कविता में लिखी हैं। महाराजा साहब ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद भी ब्रजभाषा-गद्य में किया है। जिसकी भाषा की दो पंक्तियाँ देखिए :

यह कहि के चले तितंने सूत्रधार
आई आसीर्वाद दैके बोल्यो।

ब्रजभाषा में गद्य के साहित्य का जितना कुछ भी पता है, अधिक नहीं कहा जा सकता; यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ अब तक प्रकाश में आया है, उससे अधिक और होने की सम्भावना ही नहीं है, न जाने कितने ग्रन्थ अन्धकार के वेष्टन में लिपटे पड़े होंगे; जो कुछ भी आज है—वह एक लम्बी परम्परा का संकेत-मात्र है। जिस समय ब्रजभाषा में काव्य की ही प्रधानता

१. एनुअल रिपोर्ट आन दि सर्च फार हिन्दी मैनुस्क्रप्ट्स फार दि इयर १९०१—श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ २३, रिपोर्ट सं० ५८।

थी, उस समय भी गद्य साहित्य का सर्वतोमुखी विकास क्या मौलिक साहित्य में, क्या टीकाओं में और क्या अनुवादों में एक साथ ही हो रहा था। यद्यपि टीका और मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा अनुवादों का साहित्य बहुत कम है, किन्तु इसका क्रम लगभग दो सौ वर्षों तक अनवरत रूप में बढ़ता ही चला। पुराण, नाटक, वैद्यक, गल्प आदि अनेक विषयों के अनुवाद इस बात की सूचना देते हैं कि ब्रजभाषा-गद्य की विविध विषयों के प्रतिपादन में कितनी गति, सामर्थ्य और शक्ति थी। अनुवादों का साहित्य भी प्रधानतया धार्मिक ग्रन्थों के अनुवादों से सम्पन्न है, जिससे इस बात का अनुमान किया जा सकता है, कि इसके मूल में भी धार्मिक प्रतिद्वंद्विता ही रही होगी। विभिन्न ग्रन्थों का संस्कृत से भाषा में अनुवाद करने की प्रवृत्ति इस बात की सूचना देती है कि धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनी दार्शनिकता की नींव दृढ़ करने के लिए ही सम्भवतः ऐसा प्रयास किया था।

जहाँ तक अनुवादों की भाषा का प्रश्न है, वह टीका और वार्ताओं के बीच की कही जा सकती है; अर्थात् टीकाओं की भाषा की अपेक्षा वह कहीं अधिक स्पष्ट, सरल तथा विषयानुकूल है। चन्द्रसेन मिश्र, भगवानदास, सूरति मिश्र तथा मनोहरदास निरंजनी की भाषा को लद्धड़, असन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि वार्ताओं की भाषा की भाँति इसमें न तो प्रवाह ही है न साहित्यिकता, किन्तु इनकी स्पष्टता में कहीं भी उस अकिंचनता का दर्शन नहीं होता, जिसकी झलक यदा-कदा टीकाओं में मिल जाती है।

उपसंहार : १

कालक्रम के अनुसार हम ब्रजभाषा-गद्य के विकास से परिचित हो चुके। स्वतंत्र टीका, तथा अनुवाद में प्रयुक्त विषयों की विविधता का रूप भी अप्रकट नहीं रहा। किन्तु इतने ही से किसी साहित्य का मूल्यांकन संभव नहीं। किसी विषय को प्रकट कर उसके वास्तविक तथ्य को साफ-सुथरे तथा सुलझे ढंग से प्रस्तुत करने वाली भाषा का भी स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। जहाँ तक स्वतंत्र या मौलिक रचनाओं का सम्बन्ध है पिंगल, ज्योतिष, तथा दर्शन आदि विषयों पर भी रचनाएँ हुईं। लेकिन उनमें धार्मिक विषयों का ही प्राधान्य रहा। और ऐसी रचनाएँ जिनमें गद्य-पद्य दोनों हैं उनमें साहित्यिक विषयों का आधिक्य है। धार्मिक विषयों में भी पुष्टि-मार्ग के वार्ता साहित्य का जितना अधिक प्रचार-प्रसार तथा उनमें जितनी अधिक दृढ़ता मिलती है ब्रजभाषा-गद्य के किसी अन्य क्षेत्र में नहीं। उनमें ब्रजभाषा के गद्य का हमें वह रूप दिखाई पड़ता है जिसे सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित कहा जाता है। अतः इन वार्ताओं में भी, जो उसी बोलचाल की भाषा में लिखी गई हैं, स्थान-स्थान पर अरबी और फारसी शब्द भी आ गये हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। यह सब होते हुए भी हमें इन वार्ताओं की भाषा में स्थिरता और भावव्यंजना में अच्छी शक्ति दिखाई देती है।[१]

इन वार्ताओं की रचना तत्कालीन प्रचलित बोली में की गई थी जो ब्रज के आसपास बोली जाती थी। मध्यदेश में प्रचलित शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी होने के कारण ब्रज की बोली उस युग में भी गंगा-यमुना के निकटवर्ती विस्तृत भूभाग के निवासियों की प्रचलित बोली थी। संभवतः उसी कारण से अपने मत को सर्वसुलभ बनाने के लिए गोरखपंथी साधुओं ने भी इसी बोली मे अपनी रचनाएँ उपस्थित कीं। यह भाषा इतनी अधिक प्रचलित थी कि वल्लभाचार्य, गोकुलनाथ आदि महानुभावों को दाक्षिणात्य होने के कारण आपस में दक्षिण की भाषा बोलने पर भी उसी भाषा में अपने धार्मिक ग्रंथों की रचनाएँ करनी पड़ीं। दो सौ बावन तथा चौरासी वैष्णवों की वार्ताओं की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में हम देख चुके हैं कि ये प्रामाणिक ही हैं। अतः इनकी भाषा देखकर हम यह अनुमान कर सकते

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृष्ठ १०।

हैं कि यदि ब्रजभाषा का विकास-क्रम उसी प्रकार चलता रहता तो आज खड़ी बोली की क्या अवस्था होती।

इन वार्ताओं के अतिरिक्त बचनिका तथा बचनामृतों का भी विशाल साहित्य ब्रजभाषा-गद्य में है। ये मुख्यतः गोकुलनाथजी द्वारा प्रणीत और हरिराय जी द्वारा सम्पादित हैं। हरिराय जी ने इनके रूप को माँज-खरादकर अत्यन्त दिव्य बना दिया। ब्रजभाषा-गद्य की सर्वांगीण उन्नति का श्रेय हरिराय जी को ही है। वल्लभ-सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले रचनाकारों ने वार्ताओं की खूब रचना की। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के अतिरिक्त भी कई लोगों ने वार्ताएँ लिखीं, जैसे हरिराय जी की वार्ताएँ, गोकुलदास ब्राह्मण की प्रतिलिपि से की गई वार्ता आदि। वार्ता-साहित्य के युग को ब्रजभाषा-गद्य का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। इन दोनों वार्ताओं का मूल्य केवल इसीलिए नहीं है कि ये ब्रजभाषा-गद्य की उत्तम कृतियाँ हैं, वरन् उनमें पुष्टिमार्गी आचार्यों के जीवन का सविस्तार वर्णन है और उसकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक मानी जाती है, जिसके कारण अष्टछाप के तथा अन्य ब्रजभाषा साहित्यकारों का जीवन प्रकाश में आया। उनकी जीवनी को इतनी व्यवस्थापूर्ण तथा साफ भाषा में लिखा गया है कि वर्णित व्यक्ति का सम्पूर्ण चित्र, वह कैसा रहा होगा, उसमें कितनी गरिमा होगी, यह सब स्पष्ट व्यंजित हो जाता है।

ब्रज-साहित्य में आलोचना का एक अपना रूप है, उसका प्रचलित समीक्षा से कोई सम्बन्ध नही। किन्तु उसमें उन तत्वों को पाया जा सकता है जिसके आधार पर वर्तमान समीक्षा प्रचलित है। यद्यपि यह भूलना नहीं चाहिए कि उसके निर्माण का समय दूसरा था और आज दूसरा है। उस समय संस्कृत साहित्य का प्रभाव पूर्ववत् ही बना रहा। प्रत्येक साहित्यकार संस्कृत का पंडित पहले होता था, ब्रजभाषा का लेखक बाद में। अतः संस्कृत के साहित्य के अध्ययन-मनन के कारण ब्रज-साहित्य की जो समीक्षा प्रस्तुत हुई उस पर संस्कृत की समीक्षा का पूर्णतया प्रभाव रहता था।

संस्कृत साहित्य में विवेचित रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति को लेकर जिन वादों की स्थापना की गई तथा जिनके साहित्य-सम्बन्धी न जाने कितने सिद्धान्त और वाद निर्धारित किये गये उन सबको हम आज की भाषा में सैद्धान्तिक आलोचना का नाम दे सकते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों पर साहित्यालोचना का मानदण्ड स्थापित किया जाता है। उसी प्रकार संस्कृत की टीकाओं को हम व्यावहारिक समीक्षा (एप्लायड अथवा प्रैक्टिकल क्रिटसिज़्म) कह सकते

हैं। संस्कृत साहित्य में समीक्षा का जो रूप था उसका ब्रज-भाषा में पूर्णतया अनुकरण हुआ। काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, साहित्य-दर्पण आदि के ही आधार पर ब्रज-साहित्य में समीक्षा का रूप स्थिर किया गया। टीकाएँ भी संस्कृत की शैली की अनुकृति मात्र हैं। किन्तु केशवदास, श्रीपति जसवंतसिंह तथा भिखारीदास आदि कुछ ऐसे भी आचार्य हुए जिन्होंने संस्कृत साहित्य से प्रभावित रहने पर भी अपनी मौलिकता नहीं छोड़ी है। इनकी मौलिकता का दर्शन टीकाओं में प्राप्त होता है।

केशव, मतिराम, आदि आचार्यों के अतिरिक्त गद्य-टीकाकार भाषा-भूषण के रचयिता महाराज जसवन्तसिंह ने अलंकारों पर मौलिक ढंग से विचार किया है। इन्होंने अपनी मीमांसा द्वारा अपन्हुति का एक भेद भी स्थापित किया है।

अपने रस-रहस्य में कुलपति मिश्र ने रस के सम्बन्ध में कुछ मौलिक स्थापनाएँ की हैं। प्रौढ़ता को जानने के लिए यही पर्याप्त है कि इन्होंने केशव की रचना को दोषों के उदाहरण में रखा है। इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ काव्य-सरोज या श्रीपति-सरोज माना जाता है। वास्तव में ब्रजभाषा के समीक्षक भिखारीदास जी हैं। इन्होंने ब्रजभाषा अथवा हिन्दी को ही लक्ष्य में रखकर अपने सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। कई जगहों पर तो वे संस्कृत से स्वतन्त्र होकर अपना मत व्यक्त करते हैं। भाषा और तुक आदि पर उनकी दृष्टि पहले-पहल गई। उन्होंने ब्रजभाषा का स्वरूप स्थिर किया और प्रामाणिक ब्रजभाषा लिखने वालों के नाम भी दिये।

केशव की रसिकप्रिया और कविप्रिया पर सरदार और उनके शिष्य नारायणदास की बड़ी विवेचनापूर्ण टीका है। व्यावहारिक समीक्षा के अतिरिक्त टीकाओं में भी कहीं-कहीं तुलनात्मक समीक्षा का रूप पाया जाता है। जैसे जानकीप्रसाद की रामचन्द्रिका टीका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा में व्यावहारिक समीक्षा का रूप प्रचलित था किन्तु आज की तरह नहीं। यह अन्तर तो देश-काल और परिस्थिति का है। फिर भी वह अपने देश की समीक्षा होती थी। यदि गद्य का विकास क्रमशः जारी रहता और इस प्रकार की समीक्षा का निर्माण न रुका रहता तो इस बात की सम्भावना कहीं अधिक थी कि आज जो हम समीक्षा के क्षेत्र में विदेशी आभार स्वीकार करते हैं उसकी आवश्यकता नहीं होती और भारतीय समीक्षा की परम्परा अखण्डरूप से प्रवाहित होती रहती।

ब्रजभाषा-गद्य-टीकाओं का साहित्य भी देश-काल के अनुसार अत्यधिक व्यापक है—उनमें से कुछ साहित्यिक, कुछ धार्मिक टीकाएँ लिखी गईं।

साहित्यिक टीकाओं में वर्णित विषय के स्पष्टीकरण के अतिरिक्त समीक्षात्मक दृष्टि का सूत्रपात भी प्रारम्भ होता है।

टीका और मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा अनुवादों का साहित्य कम है। किन्तु उसका क्रम लगभग २०० वर्ष तक चलता ही रहा। पुराण, नाटक, वैद्यक, गल्प आदि अनेक विषयों के अनुवाद ब्रजभाषा की विविध विषयों में कितनी गति थी, इस बात की सूचना देते हैं।

अनुवादित साहित्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों का संस्कृत से भाषा में अनुवाद केवल अपनी दार्शनिक नींव की दृढ़ता सिद्ध करने के लिए किया गया। इससे चाहे साम्प्रदायिकों को लाभ हुआ हो या न हुआ हो ब्रजभाषा साहित्य की रीढ़ तो दृढ़ हुई ही।

जहाँ तक इसकी भाषा का प्रश्न है वह टीका और वार्ता के बीच की कही जा सकती है। अर्थात् टीका की अपेक्षा वह कहीं अधिक स्पष्ट, सरल तथा विषयानुकूल है। चन्द्रसेन मिश्र, भगवानदास, सूरति मिश्र तथा मनोहरदास निरञ्जनी की भाषा अत्यन्त सफल, समर्थ तथा सुलझी हुई है। यद्यपि वार्ताओं की भाषा की भाँति इसमें प्रवाह नहीं है किन्तु इसकी स्पष्टता में कहीं भी उस अकिंचनता का दर्शन नहीं होता जिसकी झलक यदा-कदा टीकाओं में मिल जाती है।

ब्रजभाषा की उन्नति का मुख्य कारण था धार्मिक उत्थान। पुष्टिमार्गी संप्रदाय का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था प्रचार के निमित्त उसी क्रम से गद्य के साहित्य की अभिवृद्धि भी होती जाती थी। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं आई, किन्तु औरङ्गजेब ने ज्योंही शासन की बागडोर अपने हाथों में दृढ़तापूर्वक पकड़ी उसकी धार्मिक मदांधता जाग्रत हो उठी। उसने मन्दिरों और मठों को तुड़वाना, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करना, तथा धार्मिक असहनशीलता का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। अतः उसकी इस नीति से क्षुब्ध हिन्दू जनता अपनी मूर्तियों तथा जान-माल को लेकर भागने लगी। इस भाग-दौड़ में वार्ताओं का जो सुन्दर रूप निर्मित हो रहा था वह भंग हो गया। दूसरे, ब्रज का संगठित क्षेत्र छिन्न-भिन्न हो गया। अतः पुष्टि-सम्प्रदाय के गोस्वामी-वर्ग औरङ्गजेबी अत्याचार के कारण इधर-उधर जाकर रहने लगे, जिससे उनकी सामूहिक कार्य करने की व्यवस्था नष्ट हो गई। इस प्रकार ब्रजभाषा-गद्य के प्रधान क्षेत्र पुष्टि-सम्प्रदाय में ही उसका ह्रास होने लगा।

लगता है कि इस मौलिकता के नष्ट हो जाने के कारण ही टीकाओं का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें कुछ अशक्त लेखकों ने धार्मिक विषय को छोड़कर साहित्यिक विषय आदि पर लिखना प्रारम्भ किया। यही कारण है कि जो सफाई और प्रवाह स्वच्छन्द लेखकों की भाषा में रहा वह टीका में न आ सका। टीकाएँ दुरूह तथा अस्पष्ट होने लगीं। इस प्रकार क्रमशः ब्रजभाषा-गद्य का पतन होने लगा।

इसके अतिरिक्त जिस साहित्यिक भाषा के धार्मिक स्वरूप का एक ढाँचा स्थिर करके, उसी के अनुसार अविचल रूप से अपनी रचना में प्रयोग-साधना को हरिराय जी ने वरता था उसका कोई एक निर्दिष्ट व्याकरण नहीं बन सका। भाषा काव्य की प्रारम्भिक अवस्था में भले ही अपनी ग्राम्य नवीनता और ताजगी के कारण मधुर लगे, किन्तु उसको प्रौढ़ तथा परिनिष्ठित रूप प्राप्त करने के लिए व्याकरण के अनुशासन में बँधना ही पड़ता है, किन्तु ब्रजभाषा में इस अभाव ने उसके परिनिष्ठित रूप को साहित्यिक भाषा में व्यक्त होने से रोक दिया।

ऐतिहासिक उपद्रव के कारण ब्रजभाषा की परम्परा को जो आघात लगा उसके कारण भाषा न तो उठ, न तो मँज सकी। उसमें स्पष्ट रूप से विचार करने की शक्ति का अभाव हो गया। शब्दों, वाक्यों और वाक्यांशों की पुनरावृत्ति के कारण भाषा में प्रवाहहीनता आ गई। अतः लोगों ने टीकाओं को अपनाया, किन्तु मानसिक प्रवाह अवरुद्ध हो जाने के कारण तथा मात्र धार्मिक विषय-बद्ध होने के कारण शैली में पंडिताऊपन आ गया। १९वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के ब्रजभाषा-गद्य पर पंडितों की शैली का यथेष्ट प्रभाव पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा का काव्य में इतना अधिक प्रभाव हो गया था कि लोगों का ध्यान गद्य-रचना की ओर गया ही नहीं होगा। गद्य का सारा जिम्मा जैसे संस्कृत के ही माथे रहा। धर्म-प्रधान होने के कारण जहाँ उसका एक ओर प्रचार हुआ वहीं दूसरी ओर उसकी हानि हुई।

भक्ति भावना का साधन बन जाने से शंकाओं तथा वाद-विवादों की आवश्यकता समाप्त हो गई और लोग महात्माओं के वाक्यों को ही आप्त वचन मानने लगे, जिससे साहित्यिक निरूपण की अंधश्रद्धा विश्वास के आगे कोई कीमत ही नहीं रह गई। जब कि गद्य की आवश्यकता इन्हीं विषयों के लिए पड़ती है।

इस देश में प्राचीन काल से ही लोग गणित, ज्योतिष, वैद्यक आदि के ग्रन्थ भी छन्दों में ही बनाते थे, जिसको गद्य में बनाना चाहिए था। यह

इसलिए कि छन्द स्मरणशक्ति की सुरक्षा में सहायक होते हैं और गद्य नहीं। अतः गद्य लिखने की आवश्यकता का अनुभव कम लोग करते थे।

मुसलमानी शासन के विस्तार से खड़ी बोली का प्रभाव भी बढ़ने लगा था। रेखता, रेखती का रूप उर्दू में बदलकर राजकीय व्यवहार की भाषा बन चुकी थी। यहाँ तक कि दक्षिण में भी दक्खिनी हिन्दी के नाम से साहित्य-रचना का प्रारम्भ बहुत पहले से ही होने लगा था, जिससे ब्रजभाषा को काफी क्षति उठानी पड़ी। कालान्तर में जब अंग्रेजों ने हिन्दी प्रदेश पर अपने शासन का विस्तार किया उस समय चारों तरफ खड़ी बोली का प्रचार प्रायः हो गया था। कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में खड़ी बोली के प्रचार के सारे उपकरण जुटाये जाने लगे। डंकन फार्ब्स ने अपनी पुस्तक 'ए ग्रामर आफ हिन्दुस्तानी लैंग्वेज'[१] तथा जान शेक्सपीयर ने, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के मिलेट्री सेमिनरी में ओरियन्टल भाषा के अध्यापक थे, अपने व्याकरण 'ग्रामर आफ दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज'[२] में जिस भाषा को देश की सर्वज्ञात भाषा बतलाया वह हिन्दुस्तानी ही थी, जो खड़ी बोली की एक शैली-मात्र थी। अंग्रेजों द्वारा इसी भाषा में देश-वासियों को शिक्षा देने की नीति अपनाई गई, जिससे अपने-आप ब्रजभाषा का साहित्यिक प्रचार उतना अधिक नहीं हो सका जितना होने की आवश्यकता थी।

१९वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का मार्ग व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः चारों ओर से अवरुद्ध हो गया। सामाजिक और धार्मिक स्थितियाँ भी, जो कभी ब्रजभाषा के उत्थान का कारण बनी थीं, ईसाइयों के मिशनरी द्वारा तथा आर्यसमाज के धार्मिक प्रचार के कारण बदल गईं। क्योंकि इन दोनों ने अपने प्रचार के लिए जिस भाषा का आश्रय लिया वह खड़ी बोली ही थी। मिशनरियों ने देशी भाषा में बाइबिल के अनुवाद प्रकाशित कराये; पाठ्य-पुस्तकों, शब्दकोषों तथा व्याकरणों की हिन्दी में रचना कराकर हिन्दी का प्रचार किया।

साहित्यिक दृष्टि से भी ब्रजभाषा का महत्व घटने लगा था। एक ओर तो नये साहित्यकार युग की आवश्यकता के अनुसार ब्रजभाषा को अप्रगतिशील मानकर साहित्य में नये आलोक, नई दृष्टि और नई विचारधारा की अवतारणा करने का प्रयास कर रहे थे। दूसरी ओर ब्रजभाषा के साहित्यकार पुरानी लकीर के फकीर बने हुए थे। वे अब भी काव्य में पुरानी परम्परा के अनुसार श्रृंगार

---

१ A Grammar of the Hindustani Language, 1855, Page 1., Preface.

२. Grammar of the Hindustani Language, 1826. Page 1–2.

और करुण, रीति और अलंकार के विषय-वस्तु तक सीमित थे। उनके लिए नवीनता के प्रति कोई आग्रह नहीं था। इसलिए व्रजभाषा युग से पीछे पड़ती चली गई।

नये जागरण के साथ-साथ प्रेस और मुद्रण का प्रचार बढ़ने लगा था। वंगदूत, प्रजामित्र, बनारस अखबार, उदण्ड मार्तण्ड आदि-आदि जितने भी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ वह सब खड़ी बोली में ही प्रारम्भ हुआ, जिससे व्रजभाषा का प्रचार नहीं हो सका। दूसरे, पाठशालाओं की शिक्षा का माध्यम भी खड़ीबोली से ही किया जाने लगा था। इसलिए चारों ओर से व्रजभाषा के विकास का क्षेत्र घिर गया और उसके पल्लवित होने की कोई आशा नहीं रह गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तः और बाह्य दोनों रूपों से व्रजभाषा के पतन के कारण जुट गये थे। यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि यदि उसके गद्य का विकास होता रहता तो विक्रम की शताब्दी के आरम्भ में भाषा के सम्बन्ध में एक कठिन समस्या उपस्थित हो जाती और जिस धड़ाके के साथ खड़ीबोली साहित्य के लिए चुन ली गई उस रूप में व्रजभाषा नहीं ली जा सकती थी। पद्य के लिए जिस प्रकार व्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद आरम्भ हुआ था उसी प्रकार यदि कहीं व्रजभाषा का गद्य भी प्रयोग में चलता रहता तो एक और झंझट पुरातनपन्थियों द्वारा खड़ा कर दिया गया होता। कुछ समय तक दो प्रकार की गद्य की धाराएँ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह विप्लव संगठित नहीं हुआ और खड़ीबोली जो कभी अलग और कभी व्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी धीरे-धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नये मैदान में दौड़ पड़ी।[1]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४०६।

उपसंहार : २

आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो गई है; अतः उसकी व्याप्ति मात्र किसी प्रान्त तक ही सीमित न होकर राष्ट्रगत हो गई है। किसी भाषा या किसी साहित्य के पीछे जब तक एक प्रौढ़ पीठिका नहीं होती, उसकी मान्यता भी उतनी अशक्त होती है। हिन्दी इस माने में सौभाग्यशालिनी रही है कि एक विस्तृत नद की भाँति वह रही जिसमें अनेक बोलियाँ, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिल आदि साहित्य की पुनीत धाराएँ आकर मिलती रही हैं और उसको दृढ़ बनाती रही हैं। शौरसेनी अपभ्रंश की जेठी बिटिया होने के कारण वह उससे उद्‌भूत सभी भाषाओं का स्नेह तो पाती ही रही, किन्तु अपनी मधुरता और हृदयग्राहिता के कारण इसने विदेशियों को भी अपनी ओर आकर्षित किया और अनेक उर्दू, फारसी और अरबी के विद्वानों तथा विजातियों ने अपने हृदय की अमूल्य निधियों से इसके साहित्य-श्री की अभिवृद्धि भी की।

खड़ी बोली के पूर्व का साहित्य निर्विवाद रूप से लोक का साहित्य रहा है, अतः स्वभावतः इसमें गद्य का अभाव रहा होगा, किन्तु 'देसिल बचना 'सब जन मिट्ठा' को मानने वाले कितने ही साहित्यकारों ने राजस्थानी और ब्रजभाषा में गद्य की रचनाएँ कीं और देश-काल की दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में कीं। उनकी भाषा की गति, उसकी प्रांजलता को देखकर सहज रूप से मन में यह अनुमान उठता है कि निश्चय ही कोई गद्य की एक विकसित परम्परा रही होगी जो किन्हीं राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक या दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों का शिकार होकर लुप्त हो गई। न जाने कितनी ही ऐसी सामग्री जिनसे हमें पूर्व-लिखित गद्य की परम्परा के सूत्रों का पता चल सकता है, मठों, प्राचीन ग्रन्थागारों, साम्प्रदायिक अखाड़ों और ऐसे व्यक्तियों के पास पड़ी होगी, जिनका पता आज साहित्यकारों को नहीं है। अपभ्रंश के साहित्य की वही दशा थी, यदि जैकोबी जैसे उत्साही अनुसंधान-कर्ता द्वारा वह प्रकाश में न लाई जाती तो। अनेक संस्थाएँ, और व्यक्ति इस कार्य की ओर उन्मुख हैं, और वे हमारी श्रद्धा के पात्र भी हैं। उन्होंने अनेक

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का पुनरुद्धार भी किया है और आशा है कि एक दिन वह भी आएगा जब कि हम अधिकाधिक संख्या में उन ग्रन्थों को प्राप्त कर सकेंगे जिनके आधार पर हम प्राचीन गद्य-साहित्य के प्रति बने हुए भ्रमपूर्ण पूर्वग्रह का निवारण करें, उन साहित्यकारों के प्रति—जिन्होंने अपना समस्त जीवन साहित्य-साधना में लगा दिया है, अपने उचित मूल्यांकन द्वारा, अपने साहित्य की अभिवृद्धि कर सकेंगे और अपना हार्दिक अभिनंदन भी व्यक्त कर सकने में समर्थ होंगे ।

सहायक ग्रन्थों का नामानुक्रम

अनुशीलन—शिवनाथ एम० ए०।
अपभ्रंश काव्यत्रय—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज २७वाँ भाग।
अमरकोष।
आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।
कर्पूर मंजरी—राजशेखर।
काव्यादर्श—दण्डी।
काव्यमाला—नमिसाधु की टीका संयुक्त।
काव्य मीमांसा—राजशेखर।
काव्यालंकार—भामह।
काव्यालंकार—रुद्रट।
कीर्तिलता—विद्यापति।
डिंगल में वीर रस—मोतीलाल मैनारिया।
ढोरा मारूरा दूहा—सम्पादक, श्री रामसिंह तथा नरोत्तम स्वामी।
तीन जन्मवाली चौरासी वैष्णव की वार्ता।
नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
पुरानी हिन्दी—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।
पृथ्वीराज रासो—सभा संस्करण ६६वाँ समय।
ब्रजभाषा साहित्य में नायिका निरूपण—प्रभुदयाल मित्तल।
महाभाष्य—पतंजलि।
मेदिनी।
राजपुताने का इतिहास—जगदीशनारायण सिंह।
राजस्थानी भाषा और साहित्य—मोतीलाल मैनारिया।
राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा—मोतीलाल मैनारिया।
लीलावही कहा—कौतुहल कवि।
वर्णरत्नाकर—ज्योतिरीश्वर।
शब्दकल्पद्रुम।
सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ।
सूरदास की वार्ता—प्रभुदयाल मित्तल।

हिन्दी गद्य शैली का विकास—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा।
हिन्दी गद्य का संक्षिप्त इतिहास—नरोत्तम स्वामी।
हिन्दी भाषा—श्यामसुन्दरदास।
हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा।
हिन्दी विश्वकोष भाग ६।
हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा।
हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—रामनरेश त्रिपाठी।

अंग्रेजी ग्रन्थ

इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत—एलफ्रेड सी० वुलनर।
इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी लैंगवेज—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।
ए ग्रामर आफ व्रजभाषा—मिर्जा खाँ।
एनल्स आफ राजस्थान—कर्नल जेम्स टाड।
ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए० बी० कीथ।
ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर—एफ० ई० के०।
गुजराती लैंगवेज एण्ड लिटरेचर—वाल्यूम २—एन० बी० दीवेतिया।
द ओरिजन एण्ड डिवलपमेण्ट आफ बंगाली लैंगवेज।
सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।
वचनिका राठौर रतनसिंह जी महेस दासौत री हिरिया।
जगा री कही भाग १— एल० पी० टेसीटरी।
वार्डिक एण्ड हिस्टारिकल सर्वे आफ राजपूताना—भाग-
प्रथम—एल० पी० टेसीटरी।
लिंगविस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, वाल्यूम ९ भाग २
—ए० जी० ग्रीयर्सन।

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी

कल्पना—हैदराबाद, मार्च १९५३।
खोज रिपोर्ट १९००, १९०१, १९०३, १९०९, १९१०, १९११।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १० ।
ब्रजभारती, अंक ९, वर्ष २ ।
सरस्वती भाग ५०, खण्ड २, अगस्त १९४९ ।
साहित्य, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मुखपत्र ।
साहित्य संदेश—मई १९५१
हिन्दी कार्य विवरण भाग २, प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन काशी ।
हिन्दुस्तानी एकेडेमी तिमाही पत्रिका, संख्या ८, सन् १९३२ ।

अंग्रेजी

इण्डियन एण्टीक्वेरी १९१४, १६ ।
जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, वालुम १०, नं० १० ।
जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्राउजे ।
बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियण्टल स्टडीज—लन्दन इन्स्टीच्यूट, १९१८ ।
प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आफ दी आपरेशन इन सर्च आफ मैनुस्क्रप्ट्स आफ बार्डिक क्रानिकल्स ।

अनुक्रमणिका

राजकमल